वाल्मीकीय रामायण का दार्शनिक अध्ययन

पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डा० उमाशंकर शर्मा

रीडर,

संस्कृत विभाग,

पटनाविश्वविद्यालय, पटना

शोधकर्त्री

(कु०) शोभा कुमारी

शोध-प्रज्ञा

संस्कृत विभाग,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

(१९८४ ई०)

वाल्मीकीय रामायण का दार्शनिक अध्ययन

पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डा० उमाशंकर शर्मा

रीडर,

संस्कृत विभाग,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

शोधकर्त्री

(कु०) शोभा कुमारी

शोध-छात्रा

संस्कृत विभाग,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

(१९८४ ई०)

CERTIFICATE

This is to certify that Km. Shobha Kumari has worked satisfactorily under my supervision for the requisite number of terms. Her thesis entitled "Vālmīkīya Rāmāyaṇa Kā Dārshanik Adhyayana" embodies her own work. I gladly permit her to submit her thesis for the Ph.D. degree of Patna University in the Faculty of Humanities(Sanskrit).

7.7.84.

(Dr. U.S.Sharma)
Reader, Dept. of Sanskrit,
Patna University, Patna.

विषय-सूची

प्राक्कथन

वाल्मीकीय रामायण संस्कृत-भाषा का प्रथम काव्य है । वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत-भाषा के सन्धि-काल में आविर्भूत इस काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य अयोध्या-नरेश राम के चरित्र का वर्णन करना है । यह वर्णन काव्यात्मक शैली में बहुत व्यापक रूप से किया गया है । इसमें एक-एक घटना का विवरण कल्पना और अनुभूति दोनों का आश्रय लेकर किया गया है । रामायण ने समस्त परवर्ती भारतीय-साहित्य को भाव और कला दोनों दृष्टियों से प्रभावित किया है । राम को एक आदर्श पुरुष ही नहीं, अपितु ईश्वर के अवतार के रूप में चित्रित करके महर्षि वाल्मीकि ने इस लोकोत्तर चरित्र की ओर और इस चरित्र का प्रतिपादन करनेवाले अपने अभिनव ग्रन्थ की ओर सबों का ध्यान आकृष्ट किया है ।

भारतीय जनता शताब्दियों से राम को आराध्य पुरुष तथा धर्म का रक्षक मानती रही है । रामायण उसके लिए प्रेरणा का ग्रन्थ रहा है । रामायण के कथानक को शताब्दियों से अनेक रूपों में दुहराया जाता रहा है । संस्कृत-भाषा में शताधिक काव्य, नाटक, चम्पू आदि रामकथा के विभिन्न पक्षों पर लिखे गये हैं । दूसरी भारतीय भाषाओं में भी यह परम्परा चलती रही है और आज भी युगानुरूप परिवेश में ढालकर राम कथा को लिखा, पढ़ा और सुना जाता है । वाल्मीकीय रामायण की गंगोत्री इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय मानस को पवित्र करती रही है ।

किसी भी काव्य-रचना के माध्यम से कवि का वक्तव्य प्रकट होता है । इस वक्तव्य में उसका मन्तव्य निहित रहता है । इस मन्तव्य को कवि का दर्शन कहा जाता है ।

वाल्मीकि ने जो कुछ भी अपनी अनुभूतियों के आधार पर मनन किया था और जिस आदर्श जीवन-दर्शन की उन्होंने परिकल्पना की थी, उसे अभिव्यक्त करने का अवसर उन्हें रामायण में ही तो मिला । ग्रन्थ एक व्याज है, कवि का दर्शन इसमें मुख्य प्रतिपाद्य है । कवि अपने जीवन-दर्शन को किसी भी माध्यम से व्यक्त कर सकता है । वह राम की कथा का आश्रय ले, या कृष्ण की कथा का । वह किसी आधुनिक कथानक में भी अपने जीवन-दर्शन को किसी-न-किसी रूप में उपस्थित कर सकता है । ईशावास्योपनिषद् में कवि को मनीषी, परिभू और स्वयंभू कहा गया है जो अपनी कल्पना और सर्वज्ञता के आधार पर तथ्यानुसार शाश्वत सत्य को प्रकाशित करता रहता है । वाल्मीकि जैसे क्रान्तदर्शी कवि के साथ तो यह बात और भी सत्य है । उन्होंने रामायण को शाश्वत उपदेश देने के लिए एक धर्मशास्त्र ग्रन्थ का रूप दे दिया । युद्धकाण्ड के अन्त में जो रामायण का माहात्म्य वर्णित है, वह इसे धार्मिक परिवेश में ले जाता है । स्कन्द पुराण के उत्तर खण्ड में जो रामायण का माहात्म्य वर्णित है उसमें भी कहा गया है कि यह काव्य पुण्य प्रदान करनेवाला, दुःखों का विनाशक और सभी यज्ञों का फल देनेवाला है । रामायण का आश्रय लेनेवाला परम सिद्धि प्राप्त करता है (रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति)।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि रामायण की इस स्तुति का कारण इससे मिलनेवाली शाश्वत शिक्षा ही है । वह शिक्षा हमें दार्शनिक संकेत सूत्रों के रूप में मिलती है । दर्शन के व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत तत्त्व-मीमांसा से लेकर कर्तव्य की मीमांसा तक का निरूपण आदिकाव्य में हुआ है । तपस्या का एक ओर महत्त्व दिखाया गया है तो दूसरी ओर, जीवन के सुखों की भी उपेक्षा नहीं की गयी है । इस ग्रन्थ में कान्तासम्मित मधुरवाणी में गुरुसम्मित दार्शनिक मूल्यों का उपदेश दिया गया है । एक ओर इसमें वेदों के समान आदेश हैं, तो दूसरी

और पुराणों के समान रूप परामर्श है, किन्तु कहीं वाल्मीकि ने काव्य का परिधान देकर रोचक बना दिया है। इस रोचकता के आधान में कहीं-कहीं कुछ भ्रान्तियाँ भी हो जाती हैं। काव्य-शैली में अपनी दार्शनिकता को उपस्थित करने के समय वाल्मीकि कभी-कभी रोचकता बढ़ाने के लिए पूर्वपक्षीय विचारों को भी उपस्थित करते हैं। इन विचारों का कहीं तो वे प्रतिवाद करा देते हैं, किन्तु कहीं-कहीं उन्हें छोड़ देते हैं। इससे सामान्य पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि वाल्मीकि कौन-सी बात पाठकों को सिखाना चाहते हैं। यह भ्रम बहुत से आधुनिक आलोचकों को भी हुआ है।

ऐसी स्थिति में महर्षि वाल्मीकि के अपने मौलिक चिन्तन हमसे दूर हो जाते हैं। विभिन्न विरोधी विचारों में समन्वय नहीं हो पाता है। उदाहरणार्थ किसी पात्र को आवेश में उपस्थित करके महर्षि वाल्मीकि उससे धर्म और सत्य की निन्दा करा देते हैं। साथ ही वह किसी अशोभनीय मूल्य की प्रशंसा करता पाया जाता है। ऐसी स्थिति में यह नहीं समझना चाहिए कि वाल्मीकि उस अशोभनीय मूल्य के पक्षधर हैं। ऐसा तो काव्य में पात्रों की स्वाभाविकता की दृष्टि से किया गया है। कोई पात्र विशुद्ध दार्शनिक उपदेश का यंत्र न बन जाए, अपितु उसके चरित्र का नैसर्गिक विकास हो, उसमें हृदय के भाव आरोह-अवरोह दोनों कर सकें, उसमें गम्भीरता के साथ-साथ आवेश की क्षणिक स्थितियाँ भी आ सकें -- इन सबों का ध्यान वाल्मीकि ने काव्य-धर्म की दृष्टि से रखा है। इसलिए वाल्मीकीय रामायण के दार्शनिक अनुशीलन की कष्टसाध्यता उपेक्षणीय नहीं है।

रामायण का अध्ययन आधुनिक अनुसंधान की प्रक्रिया का विनियोग करके अनेक दृष्टियों से किया गया है किन्तु जिस दार्शनिक भावना की ऊपर चर्चा की गयी है उसे दृष्टि में रखकर इसका अनुशीलन शून्यप्राय हुआ है। यत्र-तत्र छिटपुट निबन्धों में या

किसी ग्रन्थ में आनुषंगिक सूचना के रूप में वाल्मीकि की दार्शनिकता की झलक अवश्य दिखलायी गयी है, किन्तु इस विषय पर एकनिष्ठ अध्ययन का अभाव ही है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध संस्कृत-अनुसंधान के इसी अभाव की पूर्ति में एक विनम्र प्रयास है ।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं । इसके प्रथम अध्याय में रामायण के काल का उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर विवेचन करते हुए रामायण के पूर्व विकसित दार्शनिक उपलब्धियों का विवेचन किया गया है । द्वितीय अध्याय में, रामायण में अभिव्यक्त समाज-दर्शन का अनुशीलन है । इस क्रम में तात्कालिक जातियों का विवेचन करते हुए आर्य जाति की वर्ण-व्यवस्था पर वाल्मीकि की दृष्टि का विश्लेषण है । तृतीय अध्याय में रामायण में उपलब्ध शिक्षा-दर्शन का विवेचन है । शिक्षा से सम्बद्ध सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर इसमें विचार किया गया है । चतुर्थ अध्याय में रामायण की तत्वमीमांसा का विश्लेषण है । इस प्रसंग में रामायण में आये हुए प्रमुख दार्शनिक तत्वों का अनुशीलन किया गया है और अन्त में जाबालि के भौतिकवाद की चिन्तन धारा का निरूपण करके उसके खण्डन पर भी विचार किया गया है । पंचम अध्याय मुख्यतः पुरुषार्थ का विश्लेषण करते हुए कतिपय आचार शास्त्रीय विषयों का भी विवेचन करता है, जैसे कर्मवाद, निराशावाद ,नैतिक मूल्य इत्यादि।

षष्ठ अध्याय में, रामायण के धर्म-दर्शन का विवेचन है । धर्म अलौकिक सत्ता में विश्वास पर आश्रित सार्वजनिक क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखता है । इस प्रसंग में रामायण में आये हुए विभिन्न अनुष्ठानों और विश्वासों का विवेचन किया गया है । सप्तम अध्याय में रामायणकालीन राजनीति-दर्शन का विवेचन है, जिसमें राज्य सम्बन्धी तथ्यों का दार्शनिक मूल्यांकन किया गया है । उपसंहार में उपर्युक्त अध्ययन का निष्कर्ष संकलित है ।

यद्यपि वाल्मीकीय रामायण का स्थान संस्कृत के सामान्य पाठ्य-क्रम में नहीं है,

किन्तु अपनी धार्मिक परम्परा में इसके सुमधुर श्लोक मुझे सदा प्रभावित करते रहे हैं। लौकिक संस्कृत भाषा पर इस ग्रन्थ का बहुत प्रभाव है, किन्तु इसके दार्शनिक पक्ष का कोई संघटित अनुशीलन न होने के कारण मुझे यह बात खटकती थी कि वैदिक संहिताओं उपनिषदों तथा परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों के विवेचन के समान वाल्मीकीय रामायण के दार्शनिक स्थलों का विवेचन क्यों नहीं हो सकता । पटना विश्वविद्यालय से संस्कृत की एम० ए० परीक्षा (१९७८) में प्रथम-वर्ग लेकर सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के अनन्तर अनुसंधान के लिए जब मैं तत्पर हुई और अपनी उपर्युक्त समस्या अपने निर्देशक गुरु डा० उमाशंकर शर्मा "ऋषि" के समक्ष मैंने रखी तब उन्होंने इस विषय पर ही मुझे सहर्ष कार्य करने की अनुमति दी । यद्यपि मेरी व्यक्तिगत व्यस्तता तथा डा० ऋषि जी के कार्यान्तर में व्यस्त होने के कारण इस कार्य में बहुत अधिक विलम्ब हो गया तथापि इसकी पूर्ति गुरुकृपा और इस क्षेत्र में पूर्वाचार्यों के दिशा-निर्देश के परिणाम स्वरूप हो गयी, इससे मुझे बहुत अधिक प्रसन्नता हो रही है । इस कार्य की परिणति में शीघ्रता लाने के लिए मैं डा० शर्मा तथा उनके परिवार के प्रति आभार प्रकट करती हूँ ।

अपने पूज्य गुरु पं० शीतल बिहारी मिश्र जी के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने बाल्यावस्था से ही संस्कृत के प्रति मेरी रुचि जगायी । अपने पूज्य पिता श्री सतीशचन्द्र बंसल जी का (जो रेलवे की सेवा से निवृत्त हो चुके हैं) आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ, कह नहीं सकती । मेरे अध्ययन के लिए यथोचित पुस्तकों के संग्रह में पिताजी ने तथा मेरे भाइयों ने वाराणसी तथा अन्य स्थलों की जो यात्राएँ की हैं, उनकी गणना नहीं भूल सकती । साथ ही, अपने चाचाजी श्री केदारनाथ सिंह की कृतज्ञ हूँ,

जिन्होंने अनुपलब्ध पुस्तकें प्रकाशक के यहाँ से लाकर मुझे दी जिनसे मुझे बहुत अधिक सहायता मिली । अपनी पूज्य माताजी तथा अपनी बहनों के प्रति भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पारिवारिक कार्यों से मुझे मुक्त करके अध्ययन के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान किया है ।

शोभा कुमारी
१४।५।८४

– शोभा कुमारी

अध्याय १
=========
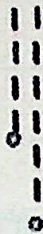
रामायण का काल और रामायण-पूर्व दर्शन

रामायण का महत्त्व -- इसके संस्करण -- रचना-काल -- महाभारत से सम्बन्ध -- जैन और बौद्ध-साहित्य -- भाषा-शैली -- अन्तःसाक्ष्य -- रामायण-काल तक विकसित दार्शनिक धारा --वैदिक संहिताओं में धर्म और दर्शन -- उपनिषदों का दर्शन -- पद्धति तथा मुख्य विचार ।

::

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।

तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥[1]

ब्रह्मा ने उपर्युक्त श्लोक के द्वारा महर्षि वाल्मीकि को रामकथा लिखने की प्रेरणा देते हुए रामायण के विषय में भविष्यवाणी की थी कि जब तक इस पृथ्वी पर पर्वत रहेंगे और नदियाँ बहती रहेंगी तब तक सारे संसार में रामायण की कथा प्रचलित रहेगी । प्रो० विन्टरनित्ज़ इस पर टिप्पणी करते हैं कि इस उक्ति में निहित भविष्यवाणी आज तक सही निकली । दो हजार वर्षों से अधिक वर्षों से राम की कविता भारत में जीवित है और सभी वर्गों तथा श्रेणियों के लोगों में इसका प्रचलन है । ऊँच-नीच, राजा-किसान, सेठ-साहूकार, कलाजीवी, राजकुमारियाँ, अनपढ़ स्त्रियाँ -- ये सब के सब इस महाकाव्य की कथाओं तथा पात्रों से परिचित हैं ।[2] रामायण महाभारत के समान भारत का राष्ट्रीय काव्य है जिसने भारतीय जनता के व्यवहार और विचारों पर गहन प्रभाव डाला है । पुरुषत्व और स्त्रीत्व के आदर्शों की जिस प्रकार इसमें स्थापना हुई है वह सभी वर्गों के मानवों के द्वारा प्रशंसित और अनुकृत हुई है । संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में रामचरित्र की अभिव्यक्ति का आदिम स्रोत वाल्मीकि रामायण ही है । विभिन्न भाषाओं के कवियों ने रामायण से विषय-वस्तु तो ली ही है, काव्यगत कल्पना तथा उप-

----

१- वाल्मीकीयरामायण - १/२/३६-३७ ।

२- विन्टरनित्ज़ - प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड - हिन्दी अनुवाद)- अनुवादक - डा० रामचन्द्र पाण्डेय, पृ० १५१ ।

मानों का भी आह्वान किया है ।[1]

अद्वितीय लोकप्रियता होने पर भी और मुख्यतः इसी कारण आज इसकी प्राप्ति अपने मूल रूप में नहीं हुई है । वाल्मीकि ने जिस रूप में इसकी रचना की थी उस रामायण में पर्याप्त विकृति तथा प्रक्षिप्तांश हो गये हैं । यही कारण है कि यह आधुनिक युग में तीन मुख्य संस्करणों में प्राप्त होता है । ये संस्करण हैं --

(१) पश्चिम - भारतीय संस्करण -- विश्वबन्धु शास्त्री तथा भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित होकर लाहौर से प्रकाशित (खण्ड १-७)।

(२) बंगाल-संस्करण -- जी०गोरेसियो द्वारा पाँच खण्डों में सर्वप्रथम पेरिस (१८५० ईसवी) से प्रकाशित । बंगाल के रामायण संस्करण इसी पर आश्रित हैं ।

(३) उत्तर भारतीय संस्करण -- सर्वप्रथम तिलक-टीका के साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित । बाद में तिलक, शिरोमणि तथा भूषण टीकाओं के साथ एस०के० मुधोलकर द्वारा सात खण्डों में बम्बई से प्रकाशित (१८१३-२०)। काशी, गोरखपुर(गीताप्रेस) आदि से प्रकाशित रामायण के संस्करण इसी पर आश्रित हैं ।

ये संस्करण एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि प्रत्येक संस्करण का तृतीयांश अन्य दोनों संस्करणों में नहीं मिलता ।[2] यह आधुनिक भारतीय विद्वानों के सत्प्रयास का फल है कि भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान,पूना, से प्रकाशित महाभारत के आधार पर गायकवाड़ प्राच्य शोध संस्थान, बड़ौदा, से डा० पी०एल० वैद्य प्रभृति विद्वानों के नेतृत्व में

१- हिस्ट्री ऑफ फिलासफी - ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (जिल्द १),पृ० ७५(जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन) ।

२- प्रो० ए०ए० मैकडोनल - हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०८ ।

वाल्मीकीय रामायण का शोधपूर्ण सम्पादन करके प्रकाशन किया गया है । इस संकरण में सभी संकरणों के आधार पर मूल पाठ को सुरक्षित करने का प्रयास किया गया है । इस संकरण के सम्पादकों का विचार है कि निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, का संकरण ही रामायण का प्राचीनतम रूप है और यही संकरण सर्वाधिक व्यापक है । यही कारण है कि बड़ौदा संकरण के प्रकाशन के पूर्व शोध तथा अन्य सभी कार्यों में इसका उपयोग होता था ।

रामायण का रचना-काल

भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में किसी ग्रन्थ का काल-निर्धारण पर्याप्त विवादास्पद विषय है । वाल्मीकीय रामायण का काल भी विवाद से वंचित नहीं है । रामायण के काल-निर्धारण में कई तथ्यों का महत्व है, जैसे -- महाभारत के साथ रामायण का सम्बन्ध, जैन और बौद्ध साहित्य के साथ रामायण का सम्बन्ध, रामायण की भाषा शैली तथा रामायण का परवर्ती प्रभाव । इन तथ्यों की पृथक् विवेचना से ही रामायण के रचना-काल का निरूपण किया जा सकता है ।

(क) रामायण और महाभारत का सम्बन्ध

यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद रहा है कि रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई थी । भारतीय परम्परा एक ओर रामायण को महाभारत से पहले की रचना स्वीकार करती है, किन्तु दूसरी ओर वैदिक वाङ्मय महाभारत के पात्रों से तो परिचित है, किन्तु रामायण के पात्रों से नहीं । भारतीय परम्परा महाभारत में कृष्णावतार और रामायण में रामावतार का निर्देश पाकर रामायण को प्राचीनतर बतलाती है, क्योंकि

विष्णु के अवतारों की परम्परागत सूची में राम का अवतार कृष्ण के पहले आता है । विन्टरनित्ज़ इस तर्क का खण्डन करते हैं क्योंकि रामायण के मूल अंश में राम को अवतार के रूप में पाया ही नहीं जाता । वे कहते हैं कि अवतारवाद कृष्ण-सम्प्रदाय से उत्पन्न हुआ और मानवरूप राम को विष्णु के अवतार के रूप में कृष्णावतार के साम्य पर परि-वर्तित किया गया । अवतारवाद का प्रश्न इतना भ्रामक है कि उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है । यह बहुत बाद की विचार-धारा है । वस्तुतः रामायण और महा-भारत की विषय-वस्तु के आधार पर ही दोनों के पौर्वापर्य का विवेचन किया जा सकता है।

महाभारत में राम का आख्यान वर्णित है । वाल्मीकि-रचित रामायण का वर्णन महाभारत में है । राम ने जिन-जिन स्थानों का भ्रमण किया था उनमें कुछ मुख्य स्थलों का वर्णन महाभारत में तीर्थ के रूप में किया गया है । शृंगवेरपुर तथा गोप्रतार ऐसे ही स्थल हैं, जहाँ राम गये थे । इन्हें महाभारत के वनपर्व में तीर्थ कहा गया है ।[1] महाभारत के वनपर्व में रामोपाख्यान है, जो वर्तमान रामायण की कथा को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है । रामोपाख्यान में राम को मानव-रूपधारी विष्णु के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यह तथ्य रामायण के पूर्वत्व के लिए पर्याप्त रूप से प्रमाण हो सकता है ।

महाभारत में अनेक स्थलों पर वाल्मीकि का आदरणीय ऋषि के रूप में उल्लेख है ।[2] इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की भौगोलिक, नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर भी रामायण को महाभारत से प्राचीनतर सिद्ध किया गया है । महाभारत अपने

१- महाभारत - ३/८५/६५, ३/८४/ ७०।

२- महाभारत - १/२/१८, २/७/१६, ५/८३/२०, १२/२००/४ ।

वर्तमान रूप में १०० ई०पू० में आ गया था ।[१] रामायण की रचना इसके पर्याप्त पूर्व हो चुकी थी । इसे कितना प्राचीन रखा जा सकता है, इसका विवेचन किया जाता है ।

(ख) जैन और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से भी रामायण के रचना-काल पर विचार किया जा सकता है । दशरथ-जातक में रामकथा मिलती है और उसमें रामायण के युद्धकाण्ड से एक श्लोक यथावत् उद्धृत किया गया है ।[२] इसी प्रकार सामजातक में एक तापस बालक की कथा आयी है जो दशरथ ने रामायण में कही है ।[३] प्रो० सिलवाँ लेवी का मत है कि सद्धर्मस्मृत्युपस्थान नामक बौद्ध ग्रन्थ निश्चय ही वाल्मीकि का ऋणी है, क्योंकि उसमें दिया गया जम्बूद्वीप वर्णन रामायण में दिये गये भौगोलिक वर्णन के बहुत समीप है । नदियों, समुद्रों, देशों तथा द्वीपों का उल्लेख इस ग्रन्थ में उसी रूप में है, जिस रूप में रामायण में है ।[४]

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने प्रथम शताब्दी ई० में "बुद्धचरित" की रचना की थी । उनका आदर्श वाल्मीकि का काव्य ही था । दूसरी शताब्दी ई० में कुमारलात की कल्पना मण्डितिका के अनुसार रामायण का सार्वजनिक पाठ होता था । चीनी स्रोतों से यह पता लगता है कि ईसा की चौथी शताब्दी में रामायण भारतीय बौद्धों के समाज में भी प्रचलित काव्य ग्रन्थ था ।

जैन आचार्य विमलसूरि ने रामकथा को ईसा की प्रथम शताब्दी में अपने

१- ए०डी०पुसलकर - स्टडीज इन दी एपिक्स एण्ड पुराणाज आफ इण्डिया, भूमिका, पृ०२१।

२- रामायण ६/१२८/१०४ ।

३- रामायण २/६३ ।

४- डा० सूर्यकान्त - संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० १०५ ।

प्राकृत काव्य पउमचरिअ में ढाला था और इस कथा को जैन-धर्म और दर्शन के अनुरूप बनाया था ।

रामायण के द्वितीय काण्ड में जो बुद्ध का उल्लेख हुआ है वह वस्तुतः प्रक्षिप्तांश है । रामायण में बौद्ध-धर्म के चिह्न नहीं मिलते ।[1]

(ग) रामायण की भाषा-शैली के आधार पर जर्मन विद्वान् प्रो० जैकोबी ने रामायण को बुद्ध के पूर्व काल का होना सम्भव माना है ।[2] इस इतिहास-काव्य की भाषा प्रचलित संस्कृत है । अशोक तथा बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर प्रचलित भाषा में अपना उपदेश दिया । जैकोबी ने कहा है कि लोकप्रिय इतिहास काव्यों की रचना किसी अप्रचलित या मृतभाषा में नहीं अपितु लोक-प्रचलित भाषा में ही की जा सकती है । इसलिए यह लोकप्रिय काव्य अपने मूल रूप में बुद्ध से पहले ही लिखा गया था जब संस्कृत एक जीवित भाषा थी ।[2] इसके विरुद्ध विन्टरनित्ज ने कहा है कि भारत में संस्कृत सर्वदा साहित्यिक भाषा के रूप में लोकप्रचलित भाषाओं के साथ-साथ जीवित रही है और दूर-दूर तक लोग इसको समझते रहे हैं पर बोल-चाल में इसका व्यवहार नहीं करते । इसलिए जैकोबी का यह तर्क उपयुक्त नहीं है ।

वाल्मीकीय रामायण की भाषा बहुधा पाणिनि-सम्मत भाषा का उल्लंघन करती है । पाणिनि का व्यक्तित्व संस्कृत भाषा में इतना प्रभावकारी रहा है कि इसका उल्लंघन इनके बाद कोई नहीं कर सकते थे । वाल्मीकि कृत रामायण की रचना अवश्य ही पाणिनि-पूर्व की घटना रही होगी । तभी तो पाणिनीय नियमों का व्यापक अतिक्रमण इसमें हुआ है ।

१- विन्टरनित्ज का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १०८ । २- उपरिवत्, पृ० १०९ ।

३- जैकोबी - दास रामायण, पृ० ११६ तथा आगे । प्रो० विन्टरनित्ज के उक्त ग्रन्थ में पृ० १०९ पर निर्दिष्ट ।

(घ) अन्तःसाक्ष्य -- रामायण के रचना-काल पर रामायण के द्वारा दी गयी सूचनाओं से बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । मुख्यतः रचना-काल में स्पष्ट तथा निर्विवाद होने से ये तथ्य ही सर्वाधिक सहायक हैं ।

रामायण के मौलिक भाग में कोशल देश की राजधानी को अयोध्या कहा गया है । बाद में बौद्ध, जैन तथा ग्रीक लेखकों ने एवं वैयाकरण पतंजलि ने भी इसके नाम का उल्लेख "साकेत" के रूप में किया है । इससे यह व्यक्त होता है कि रामायण की रचना उस समय हुई थी जब अयोध्या का नामकरण साकेत नहीं हुआ था । रामायण के अनुसार लव ने अपनी राजधानी श्रावस्ती में बनायी थी । इस प्रकार रामायण रचना के अन्तिम दिनों में श्रावस्ती का विकास हुआ था मौलिक रामायण के समय श्रावस्ती नाम की नगरी नहीं थी ।

रामायण के आदिकाण्ड के ३५ वें सर्ग में राम को ठीक उसी स्थल से पार करते हुए दिखाया गया है जहाँ आज पाटलिपुत्र है । किन्तु इस नगर का कोई उल्लेख वाल्मीकि नहीं करते । पाटलिपुत्र की स्थापना ५०० ई०पू० में हुई थी । रामायण की रचना इसके पहले ही हो चुकी होगी ।

वाल्मीकीय रामायण में मिथिला और विशाला को जो पृथक् शासकों के द्वारा शासित नगरी बताया गया है । बुद्ध के समय तक दोनों मिलकर एक ही नगर वैशाली का रूप ले चुके थे । यह भी रामायण के बुद्ध पूर्व होने का संकेत है । रामायण के समय में भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिन पर छोटे सामन्तों का राज्य था । यह राजनीतिक स्थिति बुद्ध-पूर्व भारत का निर्देश करती है । इस प्रकार इन संकेत-सूत्रों से हम रामायण की रचना बुद्ध पूर्व मान सकते हैं ।

इन सभी प्रमाणों का निष्कर्ष यही है कि रामायण ७०० ई०पू० से ५०० ई० पू० की रचना है । यह वह काल था जब उपनिषदों का अधिकांश रूप व्यवस्थित हो चुका था और वैदिक युग समाप्ति पर था । इसके अतिरिक्त पूर्वी भारत में आर्यों का प्रसार हो चुका था । अयोध्या, मिथिला, विशाला आदि नगरों से शासित राज्य सम्पन्न थे । उस समय गंगा के दक्षिणी भाग में असभ्य तथा बर्बर जातियों का निवास था । विश्वामित्र उन्हीं जातियों से संत्रस्त होकर राम को यज्ञ की रक्षा के लिए ले गये थे ।

रामायण-काल तक विकसित दार्शनिक धारा

रामायण का प्रादुर्भाव उस समय हुआ था जब भारतीय दर्शनों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय प्रकाश में नहीं आये थे, वे अपने निर्माण काल में ही थे । महाभारत में उद्भूत गीता का दर्शन भी अभी प्रकाशित नहीं हुआ था । दूसरी ओर, इस काल तक वैदिक दर्शन भी अपने विकसित रूप में वर्तमान था । वैदिक ज्ञान काण्ड के साथ-साथ कर्मकाण्ड भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था । यही कारण है कि रामायण के पात्रों को, विशेष रूप में आर्य जाति के पात्रों को हम वैदिक कर्मकाण्ड में अभिनिविष्ट पाते हैं । वैदिक यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान रामायण काल में बहुधा हुआ करता था । एक ओर, ज्ञानकाण्ड का उच्च आदर्श उपनिषदों के समान वर्तमान था, तो दूसरी ओर कर्मकाण्ड की स्थिति भी अत्यन्त उदात्त थी ।

अब हम रामायण-दर्शन के विकास की पृष्ठभूमि में वैदिक और औपनिषदिक दर्शन की संक्षिप्त विवेचना करें जिससे रामायण-दर्शन को समुचित परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके ।

वैदिक संहिताओं में धर्म और दर्शन से सम्बद्ध चिन्तन

वैदिक धर्म का विकास दो प्रकार की भावनाओं में प्राप्त होता है -- एक ओर प्रकृति की उपासना की भावना वैदिक मंत्रों में प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर एक-तत्त्ववाद की भावना भी प्रवाहित हुई है। जहाँ तक प्रकृति की उपासना का प्रश्न है इसके अनुसार विभिन्न प्राकृतिक उपादानों की देव रूप में कल्पना की गयी थी और उन्हीं की उपासना की जाती थी। पाश्चात्य विद्वानों का इस विषय में यही कहना है कि प्रकृति के स्थूल रूप की पूजा वैदिक आर्य करते थे, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। इसके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पदार्थों तथा भावों की उपासना नहीं अपितु अधिष्ठाता अथवा अभिमानी देवताओं की उपासना की जाती थी।[1] बादरायण ने इस सन्दर्भ में अपना दृष्टि-कोण स्पष्ट किया है। शंकराचार्य भी कहते हैं कि वैदिक ग्रन्थों में मृत्तिका या जल के बोलने का जो उल्लेख है उसमें वस्तुतः जड़, पृथ्वी और जल का उल्लेख नहीं अपितु उनमें अधिष्ठित देवता का निर्देश है।

दूसरी ओर इन समस्त देवताओं को शक्ति देनेवाले एक तत्त्व का विवेचन भी वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल में ही "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"[2] कहते हुए इस एक तत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

वैदिक वाङ्मय का विपुलांश कर्मकाण्ड कहा जाता है। यह भाग ज्ञान-काण्ड का पूरक है। वैदिक कर्मकाण्ड ही वैदिक-धर्म है, जिसमें यज्ञ की प्रमुखता है। वस्तुतः

१- ब्रह्मसूत्र २/१/५ अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्।

२- ऋग्वेद १/१६४/६४।

देवताओं की कल्पना का विनियोग यज्ञ में ही होता है। यज्ञ में देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग किया जाता है। जिस देवता के लिए हव्य पदार्थ का ग्रहण होता है, होता (एक ऋत्विक्-विशेष) उस देवता का मन में ध्यान करता है।[1]

वैदिक वाङ्मय में देवता की कल्पना लाक्षणिक तत्व के रूप में हुई थी। यास्क ने देवता की परम्परागत कल्पना को अपने निर्वचन में स्पष्ट किया है।[2] तदनुसार देवता वह है जो मनुष्य को या संसार को कुछ देता है (दानात्)। पुनः देवता वह है जो दीपन और द्योतन करता है। तात्पर्य यह है कि उसमें प्रकाश की शक्ति है। देवताओं का निवास स्थान द्युलोक या आकाश है। यास्क ने वैदिक देवताओं को अपने स्थान के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया है -- पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय तथा द्युस्थानीय।[3] यह कल्पना वस्तुतः ऋग्वेद के मंत्र से ही प्रवृत्त हुई है। पृथ्वी स्थानीय देवताओं में अग्नि और सोम प्रमुख हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में इन्द्र, मरुत, रुद्र आदि देवता हैं जो मुख्यतः वृष्टि और झंझावात से सम्बद्ध हैं। द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य, मित्र, वरुण, सवितृ, पूषा तथा विष्णु प्रमुख हैं। इन सभी देवताओं के स्वरूप की कल्पना में वैदिक ऋषियों ने मानव को ही मानदण्ड माना था।

इतिहास तथा पुराणों में वैदिक देवताओं की कल्पना को नया आयाम दिया गया। लौकिक ऋषियों ने देवताओं के महत्त्व का नूतन विवेचन किया तथा वैदिक युग के महत्त्वपूर्ण देवता लौकिक संस्कृत में गौण हो गये। इसके विपरीत वैदिक युग के गौण देवता रामायण महाभारत आदि में मुख्य स्थान रखने लगे। उदाहरण के लिए वैदिक

१- निरुक्त ८/२२।

२- निरुक्त ७/१५।

३- ऋग्वेद संहिता १/१३९/११ तथा निरुक्त ७/५।

युग में इन्द्र और अग्नि प्रधान स्थान रखते थे जिन्हें महाकाव्यों के युग में गौण स्थान मिला यद्यपि इन्हें कई कार्यों में आवश्यक माना गया । महाकाव्य-युग में भी जो वैदिक कर्मकाण्ड प्रवृत्त होते थे उनमें इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं का आह्वान होता ही था, किन्तु पात्रों के रूप में उन्हें वह स्थान नहीं मिला जो वैदिक युग में था ।

वैदिक युग में धर्म के अन्तर्गत नैतिक चिन्तन भी बहुत अधिक हुआ था तथा इस क्रम में "ऋत" की धारणा का विकास हो गया था । वरुण देवता को ऋत का गोप्ता या रक्षक कहा गया था । तदनुसार वरुण नैतिक व्यवस्था के नियामक माने गये थे । यह ऋत विश्व-व्यवस्था के भौतिक पक्ष के साथ-साथ नैतिक पक्ष का भी नियंत्रण करता है । अनिष्ट और यातना के समय उपासक के साथ रक्षक रूप में रहना, उसे अंहस् (पाप) से मुक्ति दिलाना, धर्म का उल्लंघन करने वाले को दण्डित करना -- इत्यादि लक्षण वरुण के ऋत-रक्षक पक्ष को प्रकाशित करते हैं ।

वरुण जिस ऋत के अभिरक्षक हैं उससे सभी देवता आबद्ध हैं । ऋत का तात्पर्य धर्म और सभी प्रकार के नियमों से है । एक ओर यह विश्व की व्यवस्था से सम्बद्ध है जिसके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ऋतुओं की नियमित गतिविधि का द्योतन होता है तो दूसरी ओर यह सदाचार से भी सम्बद्ध है । नैतिक नियम भी ऋत के अन्तर्गत हैं । इससे विश्व की प्रयोजनीयता की व्याख्या होती है । महाकाव्य-काल में जिस कर्मवाद का विकास हुआ उसका आधार यह ऋत ही है ।

ऋत की कल्पना के समान ही देवी अदिति की वैदिक कल्पना में भी नैतिक व्यवस्था का आधार प्राप्त होता है । "अदिति" संज्ञा शब्द है जिसका अर्थ -- बन्धन का अभाव (अ + दिति) होता है । इसका प्रयोग स्वतंत्रता, मुक्ति और असीमता के अर्थ में

भी हुआ है । अदिति के स्वरूप का दूसरा पक्ष सांसारिक क्लेशों और नैतिक अपराधों से मुक्ति दिलाना है । ऋग्वेद संहिता में अनागत्व के लिए अदिति की तथा उनके पुत्र आदित्यों की प्रार्थना की गयी है । अतिदित को सर्वदेवमय तथा सर्वपदार्थमय कहा गया है।[1]

इससे स्पष्ट है कि न्याय-व्यवस्था के लिए ऋग्वेद संहिता में अदिति और ऋत की कल्पना नैतिक चिन्तन को स्पष्ट करती है । परवर्ती वैदिक-साहित्य में ऋत के अभिरक्षक वरुण का महत्व कम हो गया । इससे पाश्चात्य विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीयों के नैतिक आदर्श में परिवर्तन नैतिक अवधारणा के विनाश का परिचायक है ।[2] वरुण के स्थान पर इन्द्र को परवर्ती वैदिक साहित्य प्रमुखता देता है । किन्तु इन्द्र को स्थायी प्रमुखता नहीं मिली । ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इन्द्र नैतिक गुणों से सर्वथा शून्य है और वह नीति की रक्षा नहीं कर सकता । वस्तुतः ऋत का आश्रय केवल वरुण नहीं, अपितु सभी आदित्य देवताओं को स्वीकार किया जाने लगा ।

वैदिक वाङ्मय में आचारशास्त्र के अनेक उपकरण प्राप्त होते हैं । पाप और पुण्य के बीच स्पष्ट रेखा पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती वैदिक युग में खींची गयी । दुष्ट प्रवृत्ति, शपथ लेना, मिथ्याचार, परनिन्दा, अनार्जव, छल-प्रपंच, द्यूत, ऋण, अहंकार, स्वार्थसिद्धि, व्यभिचार, चौर्य तथा हिंसा को अपराध की कोटि में रखा गया ।[3] दूसरी ओर आर्जव, सद्भाव, उदारता, अहिंसा, सत्यवादिता, सूनृतावाक्, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, पवित्रता आदि गुणों

१- ऋग्वेद संहिता १/८९/१० ।

२- भारतीय दर्शन (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ,उत्तर प्रदेश),पृष्ठ ४३ ।

३- ऋग्वेद १/२३/२२, ४/५/५, अथर्ववेद ६/११२/३, वाजसनेयि संहिता २०/५-१३, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/७/१२ ।

की महिमा का गान किया गया है ।[1] केवल यज्ञ में पशु की बलि का विधान किया गया किन्तु यह मान्यता थी कि पशु की मृत्यु नहीं होती अपितु वह स्वर्ग जाता है ।[2]

वैदिक युग के समाज-दर्शन का निर्देश भी हमें विभिन्न संहिताओं तथा ब्राह्मणों में प्राप्त होता है । सामाजिक दृष्टि से यह कहा गया था कि कोई व्यक्ति ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के प्रति ऋण धारण करते हुए जन्म लेता है । इन ऋणों का अपाकरण (शोधन) क्रमशः वैदिक अध्ययन (स्वाध्याय) यज्ञ या पूजा, सन्तान वृद्धि, आतिथ्य तथा प्राणियों को खिलाने से होता था । इन्हें "पंच महायज्ञ" कहा गया था ।[3] वैदिक-युग का समाज जो स्पष्टतः प्राचीनकाल से पौरोहित्य करनेवाले ब्राह्मणों, रक्षा और राज्य-संचालन से सम्बद्ध क्षत्रियों एवं विविध शिल्पों से सम्बद्ध वैश्यों के द्वारा निर्मित था उसे एक सेवक-वर्ग (दास या शूद्र) को मिलाकर अधिक समृद्ध किया गया ।[4] आर्य वर्ग का अर्थ केवल प्रथम तीन वर्णों तक ही सीमित रहा, किन्तु वर्ण-व्यवस्था की कठोरता वैदिक-युग में नहीं मिलती । आर्य जीवन को उत्तरवर्ती वैदिक-युग में आश्रमों में विभक्त किया गया, जिसका अर्थ आध्यात्मिक प्रगति के लिए परिश्रम करना था ।[5] ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः उस व्यक्ति के अभ्युदय का निषेध किया गया है जो श्रम नहीं करता ।[6]

१- ऋग्वेद १०/११०/१५४, अथर्ववेद ११/५ वाजसनेयिसंहिता १८/१०, २६/२ ।
२- ऋग्वेद १/१६२/२१ तथा ऐतरेयब्राह्मण २/६ ।
३- तैत्तिरीयसंहिता ६/३/१०/१५, शतपथ ब्राह्मण १/७/२/१-५ ।
४- अथर्ववेद ४/२०/४-८, ५/२२/७ तथा तैत्तिरीयसंहिता ३/२/६/२ ।
५- राधाकृष्णन् - इण्डियन फिलासफी, जिल्द १, पृष्ठ ११२ की पाद टिप्पणी संख्या २ ।
६- ऐतरेय ब्राह्मण ७/१५ ।

जहाँ तक राजनीति-दर्शन का प्रश्न है वैदिक वाङ्मय में जनता के द्वारा चुना गया तथा सम्मानित होनेवाला राजा जनता का अभिभावक होता था ।[1] यह राजा धनिक वर्ग से भरण-पोषण प्राप्त करता था ।[2] मृदु भाषण, सहयोग, समन्वय तथा उन्नति के लिए राजा का प्रयास निरन्तर चलता रहता था ।

वैदिक आचार और नीति-दर्शन के अन्तर्गत यह बात हम सर्वत्र प्राप्त करते हैं कि सदाचार का लक्ष्य समृद्धि, स्वर्ग तथा अमरत्व माना गया था ।[3] ऋग्वेद संहिता में सदाचार का पालन यदि कोई अपनी बुद्धि एवं विवेक से करता हो तो उसे पृथक् महत्त्व दिया गया था । यह महत्त्वपूर्ण कथन है, क्योंकि मनुस्मृति में भी धर्म के चतुर्थ चरण के रूप में अपनी आत्मा को प्रिय लगनेवाले कर्त्तव्य की चर्चा की गयी है । श्रुति, स्मृति और सदाचार के अतिरिक्त वह आचरण जो कर्त्ता के विवेक को स्वीकार्य हो, वह भी धर्म ही है ।[4]

ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल में ही आत्म विवेक द्वारा धर्म के निर्धारण की बात सबसे पहल उठायी गयी है । अपनी प्रज्ञा से और अपने मन से अपने कर्त्तव्य का निश्चय करनेवाला व्यक्ति कल्याण और अभ्युदय की प्राप्ति करता है । इस विषय पर बल

१- ऋग्वेद ३/४३/५ ।

२- ऋग्वेद १/६५/४ इभ्यान्न राजा वनान्यत्ति ।

३- ऋग्वेद १/१२९/१, अथर्ववेद ११/४/११ तथा ११/५/१९ ।

४- मनुस्मृति २/६

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

मनुस्मृति २/१२

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।

शोभा कुमारी

लिया गया है।[1] इसी अवधारणा को पाश्चात्य जगत् में अन्तश्चेतनावाद (इन्ट्यूशनिज्म) कहा गया है।

वैदिक-साहित्य में मृत्यु के अनन्तर होने वाले कार्यक्रम का भी स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक आर्य निश्चित रूप से इस संसार के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखते थे क्योंकि दीर्घायु की प्रार्थनाओं और आशीःकामनाओं में यही बात प्राप्त होती है। उत्तरवर्ती वैदिक-साहित्य में तो इस संसार को श्रेष्ठ तथा अमरलोक कहा गया है।[2] इसी जीवन में दीर्घायुष्य की प्राप्ति तथा अपनी संततियों के द्वारा स्थायित्व प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य बतलाया गया है।[3] परलोक के प्रति अविश्वास की भावना भी काठक-संहिता(८/८) तथा तैत्तिरीय-संहिता (६/१/१) में प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में भावी जीवन के विषय में भी अनिवार्य मृत्यु के प्रसंगों में कुछ विचार व्यक्त किये गये हैं। अग्नि देवता को मृत व्यक्ति को सर्वोच्च आकाश में पितरों से मिलाने के लिए नियुक्त माना गया है। पितृलोक में यम तथा वरुण से भेंट होती है। मृत्यु के अनन्तर शरीर को तो अग्निदेव आत्मसात् कर लेते हैं किन्तु आत्मा ज्योति के रूप में समस्त अपूर्णताओं से रहित होकर निकलती है। इसका वर्णन ऋग्वेद (१०/५६/१) तथा अथर्ववेद (६/१२०/३) में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में स्वर्ग के आनन्दों का भी वर्णन किया गया है।[4] तदनुसार उस लोक में स्थायी प्रकाश और तेज गति से प्रवाहित होनेवाला जल है। वहाँ आनन्द तथा समस्त

१- ऋग्वेद १०/३१/२

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत्।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्।

२- अथर्ववेद ५/३०/१७ तथा ८/१/१।

३- तैत्तिरीय ब्राह्मण १/५/५/६।   ४- ऋग्वेद ९/११३/७-११।

इच्छाओं की पूर्ति है । अग्नि देवता ही शरीर त्याग करनेवालों को वहाँ तक पहुँचा देते हैं । यह स्वर्ग तपस्या करनेवालों, युद्ध में वीरगति प्राप्त करनेवालों, यज्ञ में दान करनेवालों तथा व्रत को धारण करनेवालों को ही प्राप्त होता है ।[1]

दूसरी ओर उन लोगों को नरक की प्राप्ति होती है जो पाप करते हैं। नरक का वर्णन ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में गर्त, अन्धकार, गहनतम इत्यादि के रूप में किया गया है । अथर्ववेद (५/१८) में नरक की यंत्रणाओं का स्पर्श किया गया है जिसका विस्तार शतपथ ब्राह्मण (११/६/१) तथा जैमिनीय ब्राह्मण (१/४२) में प्राप्त होता है ।

यज्ञ तथा दान के कार्यों से उत्पन्न होनेवाला पुण्य स्वर्ग में भी साथ रहता है । अथर्ववेद में कर्म की चर्चा बहुत महत्व रखती है ।[2] वहाँ तपस् और कर्म के द्वारा विश्व के संचालन का प्रश्न उठाया गया है । विद्वानों का विचार है कि सामूहिक कर्म के सिद्धान्त का बीज इसी सन्दर्भ में प्राप्त होता है जिससे जगत् का उद्भव माना जाता है । तपस् का स्थान बाद में अपूर्व और अदृष्ट की कल्पनाओं ने ले लिया । कर्म से मनुष्य को लोक और परलोक दोनों प्राप्त होता है । शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि मनुष्य स्वनिर्मित संसार में ही जन्म लेता है ।[3] तात्पर्य यह है कि अपने कर्म के अनुसार प्राप्त लोक में ही मनुष्य का आगमन होता है । अपने शुभाशुभ कर्मों के मूल्यांकन के लिए भी परलोक में कुछ दिनों तक ठहरना पड़ता है ।[4] ब्राह्मण ग्रन्थों में पुनर्मृत्यु, पुनरसु(पुनः जीवन जाना) तथा पुनरायाति शब्द मिलते हैं जिनसे पुनर्जन्म

१- ऋग्वेद १०/१५४/२-५ ।
२- अथर्ववेद ११/७/१० तथा ११/८/६ ।
३- शतपथ ब्राह्मण ६/२/२/२७ ।
४- वही ११/२/७/३३ ।

सिद्धान्त का समर्थन होता है । इस प्रकार कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि की नैतिक कल्पनाएँ वैदिक युग में ही विकसित हो गयी थीं ।

देवताओं की पूजा की अपेक्षा सही ढंग से आत्मचिन्तन और तपस्या करके आत्मा का उपकार करना अधिक महत्वपूर्ण माना गया है । इसी प्रकार पुनर्जन्म और मृत्यु के भय से स्थायी मुक्ति प्राप्त करने की कल्पना भी वैदिक युग में पनप चुकी थी इसके लिए आत्मा के सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा थी । वाल्मीकीय रामायण में भले ही जीवन को बन्धन के रूप में चित्रित नहीं किया गया है किन्तु दर्शन शास्त्र की वैदिक धारा सम्पूर्ण जीवन को एक कठोर बन्धन स्वीकार करती है । यह धारा उपनिषदों में बहुत अधिक प्रौढ़ हो गयी है ।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में दार्शनिक चिन्तन के छिट-पुट प्रसंग आये हैं, उनका कोई शृंखलाबद्ध रूप प्राप्त नहीं होता । धर्म की विभिन्न शाखाओं के रूप में यज्ञों का अनुष्ठान, देवताओं की पूजा तथा अन्य ऐसे सम्यक् आचरणों का निर्देश प्राप्त होता है जिन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त थी । ऋग्वेद के खिल भाग में एक ऐसा मंत्र आया है जिससे स्पष्ट होता है कि स्वर्ग-प्राप्ति के अनेक मार्ग थे और उन मार्गों के विपरीत आचरण से नरक में पतन अनिवार्य है । यह मंत्र यास्क द्वारा निरुक्त में उद्धृत है ।[1] इसमें असुरपत्नियाँ कहती हैं कि कुछ लोग द्रव्य प्रदान करके स्वर्ग जाते हैं, कुछ लोग सोम सवन करके स्वर्ग पाते हैं, कुछ लोग दक्षिणाओं के द्वारा ऋत्विजों को प्रसन्न करके

१- निरुक्त १/११ ।

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम् ॥

स्वर्ग जाते हैं, किन्तु असुर लोग इनमें से कुछ नहीं करते । इसलिए भय है कि बक आच-रण से हम नरक में न गिर जाएँ ।

तात्पर्य यह है कि दार्शनिक चिन्तन का प्राथमिक रूप हमें आचारशास्त्रीय पक्ष के रूप में ही वेदों में प्राप्त होता है । वेदों में जो तत्त्व चिन्तन का संकेत प्राप्त होता है उसका पल्लवन उपनिषदों में मिलता है । उपनिषदों की तत्त्व मीमांसा के विवेचन के पूर्व यहाँ उनकी प्रतिपादन विधियों का विवेचन आवश्यक है ।

उपनिषदों की विवेचन-पद्धति[1]

उपनिषदों का विकास वैदिक-युग के अन्त में हुआ, किन्तु कई उपनिषदें इसके पहले ही उद्‌भूत हो चुकी थीं । उदाहरणार्थ ईशावास्योपनिषद् का बीज रूप शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में ही उद्‌भूत हो चुका था । उपनिषदों का साहित्य गद्य और पद्य दोनों रूपों में विकसित हुआ है । इसलिए दार्शनिक चिन्तन की अनेक विधियाँ यहाँ प्राप्त होती हैं । यहाँ कुछ प्रमुख विधियों का अनुशीलन किया जाता है । ये विधियाँ परवर्ती दार्शनिक चिन्तन में भी प्रयुक्त हुई हैं ।

(१) प्रतीकात्मक विधि — उपनिषदों में कहीं-कहीं अत्यन्त संकेत रूप में प्रहेलिका विधि से परम-तत्त्व का विवेचन किया गया है जैसे छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्य ने परम तत्त्व को "तज्जलान्" कहा है[2] इसका अर्थ है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है (तत् + ज), जिसमें लीन होता है (ल) और जिससे गतिशील होता है (अन्)

१- रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे - उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० २५-३०।

२- छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१ ।

वह ब्रह्म है । इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस पद्धति के द्वारा सत्य को वर्तुला-कार चक्र के समान कहा गया है जिसकी नेमियाँ तीन गुण हैं, जिसके प्रान्त सोलह कलाएँ जिसकी तीलियाँ (अरायें) ५० भाव, दस इन्द्रियाँ और उनके विषय जिसकी प्रत्यराएँ, अष्ट धातु, अष्ट ऐश्वर्य आदि जिसके अष्टक हैं, विराट् पुरुष जिसका एकमात्र रज्जु-बन्धन है, पाप, पुण्य और उदासीन ये त्रिविध कर्म जिसके तीन मार्ग हैं और जो अपने पाप-पुण्यात्मक कर्म से जीवात्मा को मोह में डाल देता है ।[1]

(२) <u>सूत्र विधि</u> -- माण्डूक्योपनिषद् में इसी विधि से "ओम्" को परम ब्रह्म बताया गया है तथा इसके अक्षरों को तोड़कर "ओम्" को चतुष्पात् आत्मा कहा गया है । ये चारों चरण क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्रज्ञ और आत्मा हैं ।

(३) निरुक्त विधि -- उपनिषदों में स्वप्न, पुरुष आदि शब्दों की निरु-क्तियाँ दी गयी हैं । इनसे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्पष्ट होता है । छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को स्वप्न का अर्थ बताते हैं कि जो सत्ता से सम्पन्न है या स्वयं को प्राप्त करता है वही स्वप्न है ।[2]

(४) आख्यायिका विधि -- कहीं-कहीं आख्यायिकाओं द्वारा उपनिषदों में परम तत्त्व का विवेचन हुआ है । इसका उदाहरण केनोपनिषद् में इन्द्र और अप्सरा की

१- श्वेताश्वतरोपनिषद् १/४

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः ।

अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैक मोहम् ।

२- छान्दोग्योपनिषद् ६/८/१

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति तस्मादेनं स्वपिती-त्याचक्षते ॥

कथा है जिसका उद्देश्य नम्रता का उपदेश देना है । वहाँ कहा गया है कि विनम्रता के बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती । यह विधि परवर्ती युग में रामायण, महाभारत तथा पुराणों में व्यापक रूप से अपनायी गयी तथा विभिन्न उपदेश कथाओं और आख्यायिकाओं के द्वारा दिये गये ।

(५) <u>उपमान विधि</u> -- आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मा और परमात्मा के अद्वैत का उपदेश कई दृष्टान्तों के द्वारा दिया है । जैसे नमक पानी में घुलकर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है वैसे ही ब्रह्म जीव में सर्वत्र व्याप्त है । जैसे नदियाँ समुद्र में मिलने पर नाम और रूप से रहित हो जाती हैं वैसे ही जीव ब्रह्म से मिलकर नाम और रूप खो देता है ।

(६) <u>संवाद विधि</u> -- यह विधि उपनिषदों में सर्वाधिक प्रचलित है । याज्ञवल्क्य ने अनेक दार्शनिकों से शास्त्रार्थ करके राजा जनक की विद्वत्परिषद् में अपने दर्शन की श्रेष्ठता दिखायी । कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद, छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि-श्वेतकेतु संवाद, नारद-सनत्कुमार-संवाद इत्यादि प्रसिद्ध संवाद हैं । रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में भी संवाद के द्वारा दार्शनिक विवेचन हुआ है । गीता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है ।

(७) <u>समन्वय विधि</u> -- कहीं-कहीं अनेक दृष्टियों का परस्पर समन्वय किया गया है इसका उद्देश्य रचनात्मक होता है । विभिन्न बिखरे हुए सिद्धान्तों को संघटित करके एक मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन इसका लक्ष्य है । प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने छह ऋषियों के मनोविज्ञानमूलक मतों का समन्वय किया है ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

(८) आत्म-संलाप विधि -- कहीं-कहीं याज्ञवल्क्य, नचिकेता, शाण्डिल्य आदि दार्शनिकों के स्वगत संलाप द्वारा दार्शनिक चिन्तन का भी निर्देश प्राप्त होता है । रामायण में भी लंका में हनुमान के आत्म-चिन्तन का उदाहरण प्राप्त होता है । इस प्रकार यह विधि तत्व मीमांसा एवं कर्तव्य के निश्चय में बहुत लाभप्रद है ।

(९) अरुन्धती न्याय विधि -- इस विधि का उद्देश्य शिष्य को क्रमशः उच्चतर सत्य का ज्ञान देना होता है । तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय बताया गया है । इससे सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन सहसा न होकर एक क्रम से होता है ।

(१०) प्रयोजन विधि -- उपनिषदों में प्रसंग के अनुकूल और प्रयोजन के अनुसार पात्र की योग्यता देखकर तत्व चिन्तन का उपदेश दिया गया है । याज्ञवल्क्य आदि उद्भट्ट तत्वज्ञानी भी तात्कालिक प्रसंग से इतर विषय पर तनिक भी प्रकाश नहीं पड़ने देते। इस विधि का आधार है अधिकारी की परीक्षा । जबतक कोई अधिकारी शिष्य नहीं मिलता तब तक उसे ज्ञान नहीं दिया जाता । विरोचन को प्रजापति के प्रथम उत्तर से ही पूरी संतुष्टि हो जाती है किन्तु इन्द्र को नहीं । इन्द्र अपनी शंकाओं को बारम्बार रखते हैं तब प्रजापति रहस्योद्घाटन करते हैं ।

इस प्रकार इन विधियों का प्रकाशन उपनिषदों के तत्व चिन्तन में होता है । सृष्टि विषयक उपदेश देना हो, या ब्रह्म का चिन्तन करना हो या परलोक विद्या का प्रतिपादन हो -- ये विधियाँ उपनिषदों के ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त होती हैं ।

उपनिषदों के मुख्य विचार

यद्यपि रामायण-विषयक दार्शनिक विश्लेषण में उपनिषदों के विचार का

साक्षात् उपयोग नहीं है तथापि यह देखना आवश्यक है कि रामायण की रचना के पूर्व उपनिषदों में किस प्रकार की चिन्तन धारा प्रवाहित हो रही थी। उपनिषदों में तात्कालिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ज्ञान मार्गी चिन्तन प्रवृत्त हुआ है। अतः जीवन से ऊपर झाँकने का प्रयास है।

जहाँ तक सृष्टि विज्ञान का प्रश्न है इस विषय में जल, वायु, अग्नि, आकाश असत्, सत् तथा प्राण से सृष्टि की मान्यता के अनेक सिद्धान्त उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। वहाँ सृष्टि-सिद्धान्त, विकास-सिद्धान्त और आविर्भाव सिद्धान्त ये तीनों मिलते हैं।[1]

तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से वहाँ परमतत्त्व ब्रह्म को माना गया है जिसका लक्षण सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द है। ब्रह्म और आत्मा के अभेद का उनमें अधिक प्रतिपादन है। ब्रह्म से प्राणियों के जन्म, स्थिति और संहार की चर्चा की गयी है। ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं--परब्रह्म, जो अमूर्त और अमृत है, तथा अपरब्रह्म जो मूर्त्त और मर्त्य है।[2] परब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान को परा विद्या कहा गया है। गीता में इन्हें क्रमशः ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति कहा गया है।[3]

आत्मा का विचार उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया है। माण्डूक्योपनिषद में जीव की चार अवस्थाएँ कही गयी हैं-- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इनमें ज्ञाता को क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा विशुद्ध आत्मा कहा जाता है। उपनिषदों में आत्मा के निरूपण की दो शैलियाँ मिलती हैं। पहली शैली आत्मा के अन्तर्यामी

१- भारतीय दर्शन (उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी), पृ० ७६।
२- बृहदारण्यकोपनिषद् २/३/१।
३- भगवद्गीता ७/४-५।

रूप को प्रकट करती है जिसके अनुसार वह सर्वव्यापी सर्वेश्वर, और सर्वज्ञ आदि है। वह अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर है। दूसरी शैली व्यतिरेक की है जिसमें नेति का प्रयोग होता है जैसे आत्मा न चल है, न अचल है। रूप रसादि से वह पृथक् है इत्यादि।

आत्मा का लक्षण स्वयं ज्योति, ज्ञान और सत्य का रूप है। वह मन और वाणी से अगोचर होने पर भी दोनों का आधार है। आत्मा को प्रायः ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है। "तत्वमसि" इत्यादि वाक्य इसके प्रबल प्रमाण हैं।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के समान परलोक विद्या का भी उपनिषदों में विवेचन है। जीव मरने पर कर्मानुसार परलोक प्राप्त करता है। मृत्यु के बाद जीवों की तीन गतियाँ होती हैं --

(१) देवयान -- श्रद्धा और तप का अभ्यास करनेवाले, औपनिषद् उपासना का मार्ग अपनाने वाले, चिता की अग्नि में प्रवेश करके क्रमशः ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं। ब्रह्म या ईश्वर में वे जब तक लीन नहीं होते तबतक वे मृत्यु लोक में भी नहीं लौटते। ब्रह्मा का आविर्भाव होने पर वे पुनः मृत्यु लोक में लौट जाते हैं। यह चक्र मुक्तिपर्यन्त चलता रहता है।

(२) पितृयान -- इष्ट, पूर्त और दान करनेवाले मृत्यु के बाद चिताग्नि में प्रवेश करते हैं और क्रमशः पितृ लोक जाते हैं। और पितृलोक से आकाश में और आकाश से चन्द्रमा में प्रवेश करते हैं। पुण्यक्षय होने तक वे वहाँ रहते हैं। पुनः वे उसी मार्ग से लौट आते हैं। अपने आचरण के अनुसार उन्हें योनि मिलती है।

(३) तृतीय गति -- उन क्षुद्र जीवों की यह गति है जो शीघ्रता से उत्पन्न होते और मरते हैं, उनके मरण और पुनर्जन्म में कोई व्यवधान नहीं होता । कीट-पतंग, दंश आदि ऐसे ही जीव हैं ।

उपनिषदों में मोक्ष की कल्पना हुई है जिसे "अपुनर्भव" कहा गया है । मोक्ष आत्मा का साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है । यह एकत्व दर्शन है जिसे पा लेने पर शोक, मोह नहीं रह जाते, सभी बन्धन और संशय नष्ट हो जाते हैं । मोक्ष पानेवाला जीव आनन्दघन और स्वराट् हो जाता है । मोक्ष भावात्मक आनन्द है, इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान है । फिर भी इस ज्ञान में उपासना या भक्ति सहायक है । उपासना से ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता मिलती है । उपासना के पूर्व कर्म भी ज्ञान-प्राप्ति का सहायक है इससे चित्त शुद्ध होता है और उपासना में प्रेम उत्पन्न होता है । ज्ञान के पश्चात् कर्म और भक्ति असम्भव है क्योंकि एकत्व दर्शन हो जाने से ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता इत्यादि के भाव नहीं रहते ।

उपनिषदों में ज्ञान प्राप्ति के तीन सोपान बताये गये हैं --श्रवण, मनन और निदिध्यासन । इनका विस्तृत निरूपण उपनिषदों में किया गया है ।

इस प्रकार रामायण की रचना के पूर्व समस्त वैदिक वाङ्मय प्रणीत हो चुका था । उसका दार्शनिक चिन्तन दो पृथक् भागों में विभक्त हो चुका था । ये भाग थे -- कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । कर्मकाण्ड का प्रतिफलन मीमांसा दर्शन तथा धर्मशास्त्रों में हुआ है । दूसरी ओर, ज्ञानकाण्ड का विवेचन वेदान्त दर्शन का विषय बना । रामायण के काल में इन दोनों दर्शनों के शृंखला बद्ध होने का प्रमाण नहीं मिलता । इसलिए वेदों

और उपनिषदों के बिखरे हुए दार्शनिक विचारों के समान ही, उन्हीं पद्धतियों में रामायण में भी दार्शनिक चिन्तन के सूत्र प्राप्त होते हैं ।

इन दार्शनिक सूत्रों का क्रमशः विवेचन हम परवर्ती अध्यायों में करें ।

:

अध्याय २

रामायण में अभिव्यक्त समाज-दर्शन

"दर्शन" का रामायण में प्रयोग -- रामायण के सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त -- जीवन-दर्शन -- समाज-दर्शन -- विभिन्न जातियों का निर्देश -- आर्यों की वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा अनार्यों की जाति-रहित समाज -- राक्षस, वानर, सुपर्ण, निषाद, शबर, यक्ष, नाग आदि अनार्य जातियाँ -- राक्षसों के समाज-दर्शन का विवरण -- वानर-जाति का समाज-दर्शन -- आर्यों का समाज-दर्शन -- वर्णों का सौहार्दभाव, कर्त्तव्य-मीमांसा -- विभिन्न वर्णों का परिचय ।

:0:

वा ल्मीकीय रामायण के आविर्भाव काल तक वैदिक-दर्शन अपने सभी रूपों में विकसित हो चुका था, किन्तु अभी षड दर्शनों के सूत्र प्रकाश में नहीं आये थे । दार्शनिक विचारों के प्रारम्भिक रूप रामायण और महाभारत में भले ही प्राप्त होते हो किन्तु उनके विचारों में एकरूपता नहीं थी । और न निश्चित शृंखला थी । तत्व चिन्तन का नाम "दर्शन" अवश्य पड़ चुका था । रामायण में भी दर्शन शब्द का प्रयोग इस अर्थ में होने लगा था । अयोध्याकाण्ड में राम अपने अनुज लक्ष्मण को दर्शन का अनुशासन करते हुए बतलाये गये हैं ।[1] यहाँ दर्शन का प्रयोग विचार के अर्थ में हुआ है । राम ने लक्ष्मण को अपने विचारों से अवगत कराया ।

पुनः इसी काण्ड में "दर्शन" का प्रयोग एक समस्त पद में हुआ है जहाँ राम जाबालि के मत का निराकरण करते हैं । राम जाबालि से कहते हैं कि जो पुरुष मर्यादारहित है, पापयुक्त आचरण करता है तथा अपने आचरण तथा सिद्धान्त(दर्शन) में भिन्नता रखता है वह कभी भी सज्जनों के बीच सम्मानित नहीं हो सकता ।[2] यहाँ "भिन्नचारित्रदर्शनः" इस समस्त पद का प्रयोग है । दर्शन चरित्र के सहयोगी के रूप में आया है

१- रामायण २/२१/६४ अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनम् ।

२- वही २/१०९/३

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ।

जिस व्यक्ति का चरित्र अर्थात् आचरण दूसरा हो और दर्शन अर्थात् विचार या सिद्धान्त दूसरा हो वह वस्तुतः आचरणहीन है । किसी भी आचरण को सम्बद्ध दर्शन से समर्थित होना चाहिए । इस प्रकार यहाँ स्पष्ट किया गया है कि दर्शन यद्यपि सिद्धान्त या विचार के अर्थ में है किन्तु इसका प्रतिफलन आचरण में अवश्य होता है ।

भारतीय दर्शन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि यहाँ दर्शन के दो पक्ष माने गये हैं --सिद्धान्त और व्यवहार । दोनों में समंजस्य होना दर्शन का साफल्य है। केवल सिद्धान्त या केवल व्यवहार निरर्थक है । इसलिए रामायण की उपर्युक्त पंक्ति का भारतीय दर्शन की विशिष्टता के प्रतिपादन में महत्व है ।

अरण्यकाण्ड में जहाँ लक्ष्मण श्रीराम को समझाते हैं वहाँ भी "दर्शन" का प्रयोग ज्ञान तथा सिद्धान्त के पृथक्-पृथक् अर्थों में दो बार हुआ है । लक्ष्मण कहते हैं -- हे राम । आपके समान सर्वदर्शन (सर्वदर्शिनः - सभी ज्ञानों से सम्पन्न) लोग महान् कष्टों में भी शोक नहीं करते हैं । ऐसे व्यक्ति अनिर्वेदपूर्वक अपनी विचार शक्ति को धारण करते हैं (अनिर्विण्णदर्शनाः)।[1]

पुनः किष्किन्धाकाण्ड में बाली को बाण से मारने के बाद जब राम उसे आश्वासन देते हैं तब बाली के विशेषण के रूप में व्यक्त दर्शन का प्रयोग किया गया है ।[2] बाली की ज्ञान-शक्ति का विकास हो गया था अर्थात् उसने संसार के वास्तविक रहस्य या दर्शन को समझ लिया था । यहाँ "दर्शन" शब्द धर्म के यथार्थ रूप या जीवन दर्शन के

१-रामायण ३/६६/१४ ।

२- वही ४/१८/५९ बालिनं व्यक्तदर्शनम् ।

अर्थ में आया है । इसी काण्ड में वर्षाकाल के अनन्तर जब सीता के अन्वेषण के विषय में चिन्तन करते हुए राम से लक्ष्मण कहते हैं कि सुग्रीव आपके मनोरथ को सिद्ध कर देंगे, तब वाल्मीकि ने लक्ष्मण के अपने शुभदर्शन अर्थात् व्यक्तिगत दृष्टिकोण का उल्लेख किया है । यहाँ दर्शन विचार या व्यक्तिगत विचार के अर्थ में आया है ।[1]

युद्धकाण्ड में दर्शन शब्द रूपरेखा अथवा विचार के अर्थ में आया है, वैसे रामायण के प्रथम सर्ग में भी "प्रियदर्शनः" कह कर राम को मनोहर रूपवाला कहा गया है ।[2] किन्तु युद्धकाण्ड में जो समुद्र उग्र दर्शन और कर्म वाले दस्युओं का वर्णन करता है वहाँ "दर्शन" शब्द रूप से अधिक विचार के अर्थ में ही संगति रखता है ।[3] इसी काण्ड में महोदर कुम्भकर्ण को "प्राकृत दर्शनः" कहता है ।[4] यहाँ दृष्टि या बुद्धि के अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग हुआ है । महोदर कहता है कि तुम्हारी दृष्टि या बुद्धि निम्न श्रेणी के लोगों के समान है ।

उत्तरकाण्ड में लक्ष्मण और सुमंत्र के वार्तालाप के क्रम में स्पष्टतः दर्शन शब्द का प्रयोग व्यक्तिगत सिद्धान्त के अर्थ में आया है । सुमंत्र कहते हैं कि दशरथ के वाक्य को मैं कभी मिथ्या नहीं होने दे सकता यह मेरा "दर्शन" (सिद्धान्त) है ।[5]

१- रामायण ४/२८/६५ प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम् ।

२- वही १/१/१८ ।

३- वही ६/२२/३२ ।

४- वही ६/६५/२ कुम्भकर्णकुले जातो धृष्टः प्राकृतदर्शनः ।

५- वही ७/५०/१६ ।

तस्याहं लोकपालस्य वाक्यं तत्सुसमाहितः ।

नैव जात्वनृतं कुर्यामिति मे सौम्य दर्शनम् ॥

युद्धकाण्ड में वाल्मीकि ने "प्रदर्शन" शब्द का प्रयोग किया है (६/५०/४०)। जिसका अर्थ तिलक टीकाकार ने शब्द और अनुमान प्रमाणों के द्वारा परोक्ष वस्तु के तत्त्व का निश्चय बतलाया है -- शब्दानुमानाभ्यां परोक्षार्थ निश्चयः । इस प्रकार रामायण में आये हुए दर्शन या सम्बद्ध शब्द से इतना अर्थ तो होने लगा था कि किसी व्यक्ति के आत्म चिन्तन, स्वसिद्धान्त या व्यक्तिगत निरीक्षण का बोध हो सके । भारतीय सन्दर्भ में दर्शन व्यक्तिगत चिन्तन का ही परिणाम रहा है । सभी पात्र कर्त्तव्य, समाज, जगत्, ईश्वर आदि विषयों में अपनी-अपनी धारणा रखते हैं । यह धारणा उनके आत्म चिन्तन से सम्बद्ध है । रामायण में भी इसी प्रकार का चिन्तन दर्शन के रूप में प्रकट होता है ।

वाल्मीकीय रामायण में अतिनैतिक तथ्यों और परिस्थितियों का वर्णन भले ही हुआ है, किन्तु प्रकृति के नियमों की अनतिक्रमणीयता का प्रतिपादन भी किया गया है। संसार की सभी वस्तुएँ व्यवस्थित हैं । उनमें अव्यवस्था की बात भी सोची नहीं जा सकती । अरण्यकाण्ड में श्रीराम अपने क्रोध का वर्णन इस प्राकृतिक नियम के सन्दर्भ में करते हैं कि जैसे वृद्धावस्था, मृत्यु, काल और ब्रह्मा का विधान -- ये सभी प्राणियों पर सदा प्रहार करते हैं और उन्हें कोई रोक नहीं पाता , उसी प्रकार मैं भी जब क्रोध में भर जाऊँगा तब मेरा कोई निवारण नहीं कर सकता ।[1] इसी प्रकार प्राणियों में सर्वत्र समान रूप उपलब्ध होनेवाले तीन द्वन्द्वों का भी उल्लेख किया गया है । ये द्वन्द्व अपरिहार्य हैं ।[2]

१- रामायण ३/६४/७६ ।

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः ।

नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥

२- वाल्मीकि रामायण २/७७/२३ ।

इन स्कन्धों की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है, जैसे --

(१) भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु ।

(२) जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ-हानि ।

(३) अस्तित्व-जन्म, वृद्धि-विनाश, परिवर्तन तथा अपचय ।[1]

इस तृतीय व्याख्या में निरुक्त में उद्धृत आचार्य वार्ष्यायणि के भाव-विकार-विषयक मत का अनुवाद है । वार्ष्यायणि ने -- जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते और विनश्यति के रूप में क्रिया के छह विकार माने हैं । सभी क्रियाएँ इन्हीं में अन्तर्भूत होती हैं ।[2] किन्तु इन्हें स्कन्ध के रूप में लेना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता ।

रामायण में पंचमहाभूतों के सदा अपने नियम पर अवस्थित रहने की भी चर्चा है । युद्ध काण्ड में राम के क्रोध से व्याकुल होकर जब समुद्र उनके सामने आता है तब यही कहता है कि पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज -- ये सदा अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं अपने सनातन मार्ग को कभी नहीं छोड़ते, सदा उसी के आश्रित रहते हैं ।[3] इसी प्रकार कार्य-कारण-नियम की अनिवार्यता दिखाते हुए कहा गया है कि जलती हुई आग की लपट के पास जाकर कोई व्यक्ति दग्ध हुए बिना रह नहीं सकता ।[4]

१- हिस्ट्री ऑफ फिलासफी खण्ड १, पृ० ८२, पाद टिप्पणी ७ ।

२- यास्क -- निरुक्त १/२ ।

३- रामायण - ६/२२/२६ ।

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव ।

स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शश्वतं मार्गमाश्रिताः ॥

४- रामायण ४/३०/१८ ।

न चाग्निचूडं ज्वलितामुपेत्य न दह्यते वीर वराह कश्चित् ।

प्राणियों के अमर होने की बात का रामायण में सर्वथा खण्डन किया गया है । अपने बन्दी इन्द्र को छोड़ने के लिए मेघनाद ने ब्रह्मा से जब अमरता माँगी तब ब्रह्मा ने यही कहा कि भूतल में कोई कितना भी प्रतापी या पुरुषार्थी हो, अमर नहीं हो सकता ।[1]

ऋग्वेद में जिस ऋत अर्थात् प्राकृतिक एवं नैतिक नियम की चर्चा की गयी है वह रामायण में भी मर्यादा, स्थिति इत्यादि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है । ये शब्द केवल प्राकृतिक नियम का संकेत नहीं करते अपितु धार्मिक और नैतिक विषयों में भी प्रयुक्त हुए हैं । रामायण में दर्शन शास्त्र से सम्बद्ध अनेक ऐसे शब्द आये हैं जिन्हें परवर्ती युग में पारिभाषिक कहा गया है । यह कहना कठिन है कि रामायण के समय में भी ये पारिभाषिक रूप ग्रहण कर चुके थे या नहीं । किन्तु इन शब्दों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे ।

यद्यपि रामायण के युग में लोकोत्तर चमत्कार दिखाने वाले ऋषियों की चर्चा हुई है, और पौराणिक विश्वासों के अनुसार इन चमत्कारों को बहुत आदर के साथ निरूपित किया गया है तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी बढ़कर शास्त्र के आधार पर सूक्ष्म विषयों में इन चमत्कारों को प्रमाण माना गया है तथापि उस युग में ख्यातिप्राप्त लोकायतिक दार्शनिकों के गहन तर्क से इन चमत्कारों को बहुत विरोध का सामना करना पड़ रहा था । इसके संकेत रामायण में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं ।

वेदों के विषय में लोगों की उत्कट श्रद्धा वर्तमान थी । कोई व्यक्ति न्याय-

---

१- रामायण ७/३०/८९/२०।

संगत हेतुओं से स्वयं सिद्ध हो चुकी वैदिक श्रुति को अपनी युक्तियों के बल पर उलट नहीं सकता ।[1] रामायण को वेदार्थ के उपबृंहण के रूप में वाल्मीकि ने देखा है । उन्होंने लव और कुश को सुयोग्य समझकर वैदिक विचारों के विस्तार के लिए रामायण नामक काव्य का ग्रहण कराया । इस प्रकार वैदिक ज्ञान के साथ रामायण का साक्षात् सम्बन्ध माना गया है ।

रामायण में सामान्य दार्शनिक विचार-धारा एक विलक्षण मार्ग पर प्रवृत्त हुई है । इसमें आशावाद की तरंगें हैं । जीवन के प्रति आशावादी दृष्टि इसमें अपनायी गयी है । यह संसार शुभाशुभ कार्य करने और उसका फल भोगने की भूमि है । अग्नि, वायु, और सोम भी अपने कर्मों के परिणाम से नहीं बच सकते ।[2] जीवन को उपनिषदों तथा परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के विपरीत वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी बन्धन रूप नहीं माना गया है । इसके साथ जन्म और मृत्यु के चक्र से मोक्ष प्राप्त करने की चर्चा भी कहीं मुक्त रूप में नहीं की गयी है । जहाँ दार्शनिक ग्रन्थ मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में अनिवार्य सिद्ध करते हैं, वहाँ वाल्मीकीय रामायण की प्रवृत्ति इस दिशा में नहीं है । इस जीवन को ही सुख-दुःख का अनिवार्य भोग-स्थल मानकर जीवन के प्रति आशावादी दृष्टि अपनायी गयी है । यहाँ कहा गया है कि कोई व्यक्ति दुःखों से सर्वथा

१- रामायण ३/५०/२२

न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ॥

२- रामायण २/१०९/२८

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्मयच्छुभम ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥

वंचित नहीं हो सकता । किस व्यक्ति पर आपत्तियाँ नहीं आतीं किन्तु क्षण भर में वे अग्नि के समान स्पर्श करती हैं और दूसरे ही क्षण में दूर हो जाती हैं ।[1] मनुष्य को सदा सुख ही सुख मिले ऐसा सुयोग दुर्लभ है ।[2] यदि कोई व्यक्ति जीवन के प्रति आस्था रखे, धैर्य धारण करे तो सौ वर्षों के बाद भी आनन्द की प्राप्ति अवश्य होगी । सीता ने अशोक वाटिका में इसका प्रतिपादन हनुमान के सामने एक लौकिक आभाणक के रूप में किया था --

"कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम् ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥"[3]

इन उक्तियों से यह प्रतीत होता है कि वाल्मीकि ने जीवन को सहज रूप में ग्रहण किया था जहाँ धैर्य धारण करने से सुख की प्राप्ति होती है । सामान्यतः जीवन दुःख से भी भरा है किन्तु इसमें सुख का अभाव नहीं होता ।

रामायण में प्रतिपादित जीवन-दर्शन से सम्बद्ध निम्नलिखित पंक्तियाँ आशा और आश्वासन से जुड़ी हुई हैं । सभी संग्रहों का विनाश निश्चित है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन में होता है, संयोग का अन्त वियोग और जीवन का अन्त मरण है ।[4]

१- रामायण ३/६६/६ (प्राणिनः कस्य नापदः)।

२- रामायण २/१८/१३ (दुर्लभं हि सदा सुखम्)।

३- वही ५/३४/६ ।

४- रामायण २/१०५/१६ , ७/५२/११ ।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।

शोभा कुमारी

यह सिद्धान्त वाल्मीकीय रामायण का उत्कृष्ट दर्शन है, इसी लिए महर्षि वाल्मीकि ने इसे अपने ग्रन्थ में दो-दो बार स्थापित किया है । एक बार राम भरत के सामने जीवन की अनित्यता बताते हुए इसे चित्रकूट में कहते हैं तो दूसरी बार लक्ष्मण राम को समझाते हुए इस दर्शन का निरूपण करते हैं ।

जीवन-दर्शन का एक पक्ष यह भी है कि संसार में जिन-जिन पदार्थों से हमारा सम्बन्ध होता है उन्हें शाश्वत रूप से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिए । आज के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि रेल-यात्रा में आकस्मिक संयोग से कई व्यक्तियों से भेंट होती है, सभी अपने-अपने स्टेशन पर उतर जाते हैं और वह कुछ समय का सम्बन्ध पुनः स्मृतिपथ में भी नहीं आता । उसी प्रकार स्त्री, पुरुष, पुत्र, कुटुम्ब आदि से सम्बन्ध होता है और बाद में वियोग हो जाता है । राम भरत को यह तथ्य तात्कालिक सन्दर्भ में समझाते हैं कि जैसे महासागर में बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं और कुछ काल के बाद पृथक् भी हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं क्योंकि उनका वियोग अवश्यम्भावी है ।[1]

श्री राम इस प्रसंग में आगे चलकर कहते हैं कि इस संसार में कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होनेवाले जन्म-मरण के नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता । जो व्यक्ति

१- रामायण २/१०५/२६-२७ ।

यथाकाष्ठं च काष्ठं समेयातां महार्णवे
समेत्यतु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ।
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवोऽह्येषांविनाभवः ।

मृत पुरुष के लिए बार-बार शोक करता है उसमें भी यह क्षमता नहीं होती कि अपनी मृत्यु को टाल सके । यह सिद्धान्त गीता के द्वितीय अध्याय में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश में भी पल्लवित हुआ है ।[1]

मनुष्य को यह सदा विचार करना चाहिए कि नदियों का प्रवाह पीछे नहीं लौटता उसी प्रकार प्रतिदिन ढलती हुई अवस्था नहीं लौटती । उसका क्रमशः नाश हो रहा है यह विचार कर आत्मा को सुख के कार्यों में लगाना चाहिए क्योंकि सभी लोग सुख भोगने के अधिकारी हैं ।[2] इस प्रसंग में अनेक दृष्टान्त देते हुए जीवन की क्षणभंगुरता दिखायी गयी है कि मृत्यु मानव के साथ-साथ चलती है, साथ ही बैठती है और जीवन के दीर्घ मार्ग को पार करके यह मृत्यु जीवन को लेकर ही जाती है ।

रामायण में सुख के उपभोग को पाँच ऋणों में अन्यतम बताया गया है । जिस प्रकार देव,ऋषि, पितर और विप्र के प्रति ऋण का शोध आवश्यक है उसी प्रकार अपने प्रति भी ऋण मुक्त होना आवश्यक है । यह आत्मऋण और कुछ नहीं, अपितु सुख का उपभोग ही है ।[3] सुखद परिस्थितियों का उपार्जन आत्म-प्रयास से ही सम्भव है । परिस्थितियाँ

१- गीता २/२७ ।

आतस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

२- रामायण २/१०५/२१ ।

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः ।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ।

३- वाल्मीकि रामायण २/४/१४ ।

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथात्मनः ॥

स्वयं सुखद नहीं होतीं उन्हें अनुकूल बनाना पड़ता है । इसलिए वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म का आचरण आवश्यक माना गया है ।[1] सीता इस प्रसंग में राम से कहती है कि कोई व्यक्ति केवल सुख से सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता, अपितु धर्म से ही सुख मिल सकता है यह धर्म आत्मा को कठोर नियमों से कृश करने पर ही पाया जा सकता है ।[2]

समाज-दर्शन

वाल्मीकीय रामायण में निर्दिष्ट समाज-दर्शन वैदिक समाज-दर्शन का ही परिष्कृत रूप है । समाज के अर्थ में कोई परिवर्तन भारतीय साहित्य में नहीं प्राप्त होता । अनेक व्यक्तियों का समूह, जो समान रुचि तथा संस्कारों को लेकर चलता था, समाज कहा जाता था । वैदिक युग में जो सामाजिक व्यवस्था अपेक्षाकृत कम वर्गों में विभक्त थी । रामायण काल में वह व्यवस्था कुछ अधिक वर्गों में विभक्त हुई और यह गति परवर्ती युगों में बढ़ती गयी ।

समाज-दर्शन भारतीय परिवेश में अपने वर्गीकरण के लिए विख्यात है । अन्य देशों के समाज आर्थिक या धार्मिक आधारों पर विभाजित हुए हैं, किन्तु भारतीय समाज में विभाजन का आधार एक विलक्षण वर्ण-व्यवस्था है, जिसका निर्देश हमें सभी ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से प्राप्त होता है ।

१- रामायण ३/९/३० ।

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ।

२- रामायण ३/९/३१ ।

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।

प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥

वाल्मीकीय रामायण में भारत में निवास करनेवाले स्थूल रूप से आर्य और अनार्य इन दो वर्गों में या समाजों में विभक्त थे । इन विभागों के कुछ उप-विभाग भी थे किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं थी । आर्यों और अनार्यों की सामाजिक व्यवस्था परस्पर भिन्न थी । आर्यों का समाज वैदिक परम्परा के अनुकूल वर्णाश्रम के ढाँचे में ढला हुआ था । दूसरी ओर, अनार्यों का समाज जाति-रहित था । गंगा-सिन्धु की समतल भूमि में आर्यों का प्रभुत्व था । इसके दक्षिण में अनार्य जातियाँ निवास करती थीं । अनार्यों का कई क्षेत्रों में सहयोग भी आर्यों को मिलता था । विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में निवास करनेवाली अनार्य जातियों में से अधिकांश ने आर्यों के प्रभुत्व और उनकी संस्कृति को अंगीकार कर लिया था, किन्तु भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर तथा लंकाद्वीप में एक भयावह कृष्णवर्ण जाति रहती थी जिसकी रीति-नीति आर्यों से मिलती नहीं थी । इस जाति को आर्यों ने राक्षस कहा था । इसी के विरुद्ध राम ने अभियान किया था ।[१]

महर्षि वाल्मीकि ने राक्षस-जाति की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करते हुए उन्हें ऋषि-मुनियों के आश्रमों के विध्वंसक, वैदिक क्रिया-कलापों में विघ्न डालनेवाले, ब्राह्मणों के चिर शत्रु, स्वेच्छानुसार आकार बदलनेवाले तथा वैदिक व्यवस्था के विरोधी के रूप में चित्रित किया है । उनका राजनीतिक पक्ष बहुत प्रबल था । वे विशिष्ट और परिष्कृत सम्पत्ति के स्वामी थे किन्तु अपने स्वेच्छाचार, भोग-विलास, दुष्टता और क्रूरता के कारण कुख्यात थे । आहार-विहार तथा यौन सम्बन्धों में उनका आचरण लज्जारहित और अमर्यादित था । वे तपोवनों के ऋषियों की हत्या कर देते थे ।[२] वे नर-मांस भी

१- डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास - रामायणकालीन समाज, पृ० १५ ।

२- रामायण ३/६/१६ ।

जाते थे ।[1]

राक्षसों के अनन्तर रामायण में निर्दिष्ट अनार्य जातियों में वानरों का महत्वपूर्ण स्थान है । इस जाति ने आर्यों से सहयोग ही नहीं किया, उनके धार्मिक क्रिया-कलापों को भी स्वीकार किया । राक्षसों के विरुद्ध अभियान में राम की सहायता वानरों ने मुक्त रूप से की थी । इनके अतिरिक्त तात्कालिक भारत में निषाद, गृध्र, शबर, यक्ष और नाग जैसी अन्य अनार्य जातियाँ भी रहती थीं । इनमें से निषाद जाति कोशल राज्य की सीमा पर रहती थी । इस जाति के लोगों की राजधानी शृंगवेरपुर थी । गंगा के उत्तरी भाग में इस जाति का छोटा राज्य था । निषादों का सम्बन्ध नौका-निर्माण तथा उसे चलाने से था । राम को गंगा पार पहुँचाने का कार्य निषाद राज ने ही किया था । कोशल राज्य के पड़ोस के कारण निषाद जाति आर्य संस्कृति से बहुत प्रभावित हुई थी ।

प्राचीन भारत की पर्यटनशील जातियाँ गृध्र या सुपर्ण कही जाती थीं । पर्यटनशील स्वभाव के कारण इन्हें पक्षियों के नाम पर अभिहित किया जाता था । इनका निवास पश्चिमी समुद्री तट और उसके निकट की पर्वत श्रेणियों पर था । इस जाति का संक्षिप्त परिचय रामायण में मिलता है । जटायु और सम्पाति इस जाति के मुखिया थे । सम्पाति के द्वारा अपने दिवंगत भाई जटायु को जलांजलि अर्पित किया जाना[2] सिद्ध करता है कि गृध्र जाति ने भी आर्यों की धार्मिक रीतियों को स्वीकार कर लिया था । जटायु ने राम को

१- रामायण ३/१०/६ ।

भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ।

२- वही ४/६०/१ ।

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।

प्राणियों की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण दिया था और उनके लक्षण भी बतलाये थे ।[1] इससे तात्कालिक लक्षण-विज्ञान पर प्रकाश पड़ता है । इसी प्रकार सम्पाति ने भी वानरों को पक्षियों के विविध भेद बतलाये थे ।

शबर जाति से सम्बद्ध शबरी नामक तपस्विनी की चर्चा रामायण के अरण्यकाण्ड में मिलती है । इस जाति के लोग प्रायः आखेट-जीवी होते थे । शबरी की कथा के माध्यम से वाल्मीकि ने इस जाति पर भी आर्य संस्कृति का प्रभाव दिखाया है । शबरी पवित्र और संयत जीवन व्यतीत करनेवाली साध्वी थी ।

यक्ष जाति सम्भवतः राक्षसों से सजातीय थी । वाल्मीकि ने कहा है कि ताटका राक्षसी बनने के पहले एक सुन्दर और शक्तिशाली यक्षी थी ।[2] अगस्त्य ऋषि ने उसे शाप दिया था कि तुम यह रूप छोड़कर नरमांसभक्षिणी राक्षसी हो जाओ । रामायण में राक्षसों और यक्षों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों के भी उदाहरण मिलते हैं । यक्षपति कुबेर राक्षसराज रावण के सौतेले भाई थे, किन्तु रावण ने साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित होकर यक्षों को दक्षिण भारत से उत्तर में खदेड़ दिया ।[3] बाद में संस्कृत ग्रन्थों में यक्षों को देवयोनि के अन्तर्गत मान लिया गया क्योंकि इनका निवास हिमालय में बना ।

एक अन्य अनार्य जाति नाग नाम की थी । इस जाति का अधिकार लंका के कुछ भागों में तथा मालाबार प्रदेश पर भी था । यह समुद्र-जीवी जाति थी । पर्वतों की गुफाओं

१- रामायण ३/१४/६-३३ ।

२- वही १/२५/५-९ ।

३- चिन्तामणि विनायक वैद्य - दी रिड्ल ऑफ दी रामायण, पृ० ९९ ।

और समुद्र के तटों पर इस जाति के लोग रहते थे । रामायण के अनुसार हनुमान को समुद्र लाँघते हुए नागों ने देखा था ।[1] नाग-जाति की कन्याएँ अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थीं । राक्षसराज रावण ने कई नाग कन्याओं को हरकर लंका में रखा था ।[2]

रामायण में असुरों और राक्षसों को पृथक्-पृथक् माना गया है यद्यपि दोनों ही आर्य संस्कृति के विरोधी थे । वाल्मीकि ने असुरों को पातालवासी तथा अधर्म-पोषक बतलाया है ।[3] रावण के अचेत हो जाने पर ऋषियों, वानरों और देवताओं के साथ-साथ असुर भी प्रसन्न हुए थे ।[4] पौराणिक मान्यता के अनुसार असुर देवताओं के सौतेले भाई थे । इसलिए इन्हें भी कुछ लोग आर्य श्रेणी में रखने का परामर्श देते हैं ।

इन जातियों के अतिरिक्त रामायण में देवतों, गन्धर्वों, चारणों, सिद्धों, किन्नरों और अप्सराओं की भी चर्चा हुई है । सामान्य जन-समूह में इनका उल्लेख हुआ है । जब कोई आश्चर्यजनक घटना घटती है तब उसके द्रष्टा के रूप में इन जातियों का सामूहिक उल्लेख मिलता है ।

रामायण के समाज-दर्शन का रूप इन विभिन्न जातियों की दृष्टि से पृथक्-पृथक् है । राक्षसों का समाज अपनी महत्वाकांक्षा, आर्य-विरोध तथा उत्कृष्ट सभ्यता के लिए

१- रामायण ५/१/८४ ।

२- वही ५/१२/२१-२२ ।

नागकन्या वरारोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।

प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण निकृत्य बलादधृताः ॥

३- वही ५/१/९३ ।

४- वही ६/५९/११५-१६ ।

विख्यात था । रावण की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा रामायण में विस्तृत रूप से वर्णित है । राक्षसों का राज्य वस्तुतः सम्पूर्ण दक्षिणी भारत और भारत के वन-प्रदेश पर था । इसके अन्तर्गत उत्तरी भारत के कुछ अरण्य प्रदेश आते थे ।

राक्षसों के बीच सामाजिक सम्बन्ध जाति या वर्ण पर आश्रित नहीं थे । उनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं होती थी । समान कर्म में लिप्त रहने के कारण वे सभी एक ही वर्ग के थे । अनीति, अधर्म, हिंसा, अत्याचार, विलास और व्यभिचार जैसे कर्मों में वे लगे रहते थे । किन्तु राक्षसों में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था । रावण ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करने के लिए राक्षसों से पर्याप्त सहायता पायी थी । वाल्मीकि ने राक्षसों की राजनीति का भी वर्णन किया है जिसमें शिष्टाचार और अनुशासन की व्यवस्था थी । रावण की राजसभा में सर्वज्ञ और बुद्धिमान् मन्त्री तथा सभी गुणों से युक्त अमात्य वर्तमान थे ।[1]

राक्षसों में भी आर्यों के समान संस्कार आदि होते थे । उदाहरणार्थ अग्नि के साक्ष्य से रावण ने मन्दोदरी का पाणिग्रहण किया था । उनके धार्मिक कृत्यों में स्वस्त्ययन नाम की मांगलिक क्रिया बहुत प्रचलित थी । रण-भूमि में जाने के पूर्व राक्षस लोग स्वस्त्ययन करते थे ।[2] राक्षस लोग नियमपूर्वक तपस्या भी करते थे, किन्तु आर्यों और राक्षसों में तपस्या के उद्देश्य भिन्न होते थे । जहाँ आर्य तपस्वी आध्यात्मिक ज्ञान और परलोक सुधार

१- रामायण ६/११/२५ ।

मंत्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः ।

अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञाः बुद्धिदर्शनाः ॥

२- वही ६/९५/७ ।

कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे ते रणाभिमुखाद्ययुः ।

के लिए तपस्या करते थे, वहाँ राक्षसों का उद्देश्य भौतिक शक्ति प्राप्त करना होता था । राक्षस शक्तिशाली और तितिक्षु होने के कारण कठोर से कठोर व्रत भी कर लेते थे । हनुमान् के अनुसार रावण का तपस्याजन्य पुण्य इतना अधिक था कि सीता का स्पर्श करने पर भी वह नष्ट नहीं हुआ ।[1]

राक्षस लोग यज्ञ-यागादि का भी अनुष्ठान करते थे किन्तु उनमें प्रायः अभिचार क्रियाएँ ही होती थीं जिनका वर्णन अथर्ववेद में किया गया है । उनका यज्ञ प्रायः तामस यज्ञ होता था । वे अनेक गुप्त और रहस्यमय क्रिया कलापों के उपासक होते थे । राक्षसों में वैदिक शिक्षा भी थी । हनुमान ने वेदाध्ययन में संलग्न यातुधानों को देखा था ।[2] रावण की मृत्यु के बाद विलाप करते हुए विभीषण ने अपने भाई को आहिताग्नि, महातपाः और वेदान्तगः कहा था । इससे ज्ञात होता है कि राक्षस-जाति ने आर्यों की शिक्षा को अपने जीवन में प्रमुख स्थान दिया था ।

राक्षसों के समाज-दर्शन का यह उत्कृष्ट पक्ष अवश्य था, किन्तु उनका आचार पक्ष अत्यन्त निकृष्ट था । उनके मुक्त आचरण का निर्देश "राक्षस-विवाह" में मिलता है, जो धर्मशास्त्रियों के अनुसार कन्या का अपहरण करके विवाह करने की प्रथा के रूप में था ।

१- रामायण ५/५८/४ ।

सर्वथाति प्रवृद्धोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः ।
यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥

२- वही ५/४/१३ ।

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै ।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श ह ॥

राक्षसों में प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी । स्वयं रावण की भतीजी कुम्भीनसी का अपहरण मधुदैत्य ने किया था । इससे ज्ञात होता है कि राक्षस लोग विवाहित या अविवाहित किसी भी स्त्री से समागम करने में स्वच्छन्द थे । वाल्मीकीय रामायण में इस प्रवृत्ति को सुधारने का प्रयास प्राप्त होता है । रावण को यह परामर्श दिया गया कि आप सीता का उपभोग करने में कुक्कुट के समान पाशविक बल का प्रयोग क्यों नहीं करते,[1] तब रावण ने कहा कि एक बार एक अप्सरा पर बलात्कार करने के कारण मैं ब्रह्मा के शाप का भागी बन चुका हूँ । यह आख्यान राक्षसों के अमर्यादित यौन-सम्बन्धों में एक आवश्यक सुधार का सूचक है । एक ओर, नारी की दयनीय दशा और दूसरी ओर, सुसंस्कृत आर्य जाति का आदर्श इन दोनों ने मिलकर राक्षसों को आवश्यक समाज सुधार के लिए प्रेरित किया होगा ।[2]

राक्षसों के बीच शिष्टाचार और लोक-व्यवहार आर्यों के समान था । वे आर्य संस्कृति से प्रभावित थे । युद्ध क्षेत्र में जाने के पूर्व कुम्भकर्ण ने अपने बड़े भाई रावण का आलिंगन करके उसकी प्रदक्षिणा की और सिर झुकाकर अभिवादन किया । इसी प्रकार मारीच ने अपने आश्रम में रावण का पाद्य अर्घ्य आसन और श्रेष्ठ खाद्य-भोज्य पदार्थों से स्वागत किया था ।

आर्यों और राक्षसों के बीच परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी रामायण काल में

१- रामायण ६/१३/४ ।
बलात् कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल ।

२- डा० व्यास - रामायणकालीन समाज, पृ० ३० ।

होने लगे थे । रावण सीता और वेदवती जैसी आर्य स्त्रियों से विवाह करने को उत्सुक था । दूसरी ओर शूर्पणखा राक्षसी होने पर भी राम-लक्ष्मण से विवाह करना चाहती थी । अनेक राजर्षियों, विप्रों और गन्धर्वों की कन्याएँ कामासक्त होकर स्वेच्छा से रावण की पत्नियाँ बन गयी थीं ।[1]

वानर जाति और समाज-दर्शन

वाल्मीकीय रामायण एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें वानर जाति की सभ्यता का चित्रण किया गया है । यह जाति मानव-जाति ही थी क्योंकि अन्य मनुष्यों के समान इसका आचार-विचार अंकित किया गया था । वाल्मीकि के अनुसार वानर लोग माया के ज्ञाता, शूर, वायु के समान चलने वाले, नीतिज्ञ, बुद्धिसम्पन्न, विष्णु के समान पराक्रम वाले, अपराजेय, विभिन्न उपायों के ज्ञाता, दिव्य शरीरधारी तथा देवताओं के समान अस्त्र-शस्त्र आदि गुणों से सम्पन्न होते थे ।[2]

वानरों की सबसे बड़ी विशिष्टता थी -- इच्छानुसार रूप धारण करना । हनुमान से सम्बद्ध विविध घटनाओं में इसके दृष्टान्त मिलते हैं । राम से प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर तथा सीता के अन्वेषण में हनुमान ने अनेक रूप परिवर्तन किये थे ।

१- वही ५/९/६९८।

२- वही १/१७/३-४ ।

मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे ।
नयज्ञान्बुद्धिसम्पन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥
असंहार्यानुपायज्ञान्दिव्यसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव ॥

वानरों की सरलता के साथ-साथ उनकी भीषणता भी विलक्षण रूप से वर्णित हुई है। उनमें भावुकता और कौतूहल की भावना भी होती थी। अपनी सरलता के कारण उनमें निराधार आशंकाएँ तथा मूर्खतापूर्ण व्यवहार भी प्रकट होते थे।

वानर-जाति का समाज-दर्शन उनके उपर्युक्त गुणों के परिवेश में प्रकट हुआ है। वे सदा समूह के प्रेमी थे। सीतान्वेषण के समय उन्होंने परस्पर पार्थक्य का अवसर कभी आने नहीं दिया। इसी समूह प्रेम के कारण अंगद, हनुमान, जाम्बवान आदि वानर नेताओं ने अपने दल को छोटी-छोटी टोलियों में विभक्त करने की बात भी नहीं सोची, यद्यपि ऐसा करने से दक्षिण प्रदेश के विस्तृत भूभाग का अन्वेषण वे शीघ्रता से कर सकते थे।

वानरों में दलगत आसक्ति थी जिससे अपने नेताओं के अन्धानुकरण में वे प्रवृत्त रहते थे। यही कारण है कि ऋक्षबिल गुफा से जब हंस, सारस आदि जलचर पक्षियों को हनुमान ने निकलते देखा और वहाँ जल होने का अनुमान किया,[1] तब अन्य भूखे-प्यासे वानरों ने इसका समर्थन किया और वे सभी उस गुफा में घुस पड़े। इसी प्रकार सीता के अन्वेषण से निराश होकर अंगद ने प्रायोपवेशन (अनशन द्वारा प्राण-त्याग) का विचार किया तब उनके साथियों ने भी ऐसा ही करने का संकल्प किया।[2] अपने नेताओं के प्रति इस प्रकार की आसक्ति वानर जाति की विशेषता थी। उचित नेतृत्व और निर्देश मिलने पर वानरों में अद्भुत कार्य करने की क्षमता थी।

१- रामायण ४/५०/८ -१६ ।

२- वही ४/५५/१९-२० ।

वानर-जाति की सभ्यता तथा उच्च आदर्शों की दृष्टि से उनकी सामाजिक नीति भी उत्कृष्ट थी । उनका समाज अनेक यूथों या वर्गों में विभक्त था जिनके मुखिया यूथप कहलाते थे । दुर्धर, केशरी, गवाक्ष और नील का नाम प्रसिद्ध यूथपों में था । उनके ऊपर महायूथप होता था और सम्पूर्ण वानर-जाति का नेता राजा कहलाता था । प्रत्येक वानर व्यक्तिगत रूप से राजा के प्रति अनुरक्त था । शान्ति काल में राजा के लिए स्वदेश में श्रम करना और युद्ध काल में राजा की इच्छानुसार दूर जाकर युद्ध करना प्रत्येक वानर का कर्त्तव्य था । इस प्रकार शासक और शासित में व्यक्तिगत सम्बन्ध रहता था । इस सामाजिक व्यवस्था से मध्यकालीन सामन्त प्रथा का बहुत साम्य मिलता है ।[1]

वानरों का पारिवारिक प्रेम भी वाल्मीकि ने प्रकाशित किया है । सीता के अन्वेषण के क्रम में जब समुद्र के विस्तार से वानरों ने अपने प्रयत्न में बाधा देखी, तब अंगद ने भावावेश में कहा था कि अब किसके प्रसाद से हमारा कार्य सिद्ध होगा और हम सुरक्षित लौटकर स्त्रियों, पुत्रों और अपने घरों को देख सकेंगे ।[2]

सभी सामाजिक तथा राजनीतिक संगठनों के मूल में स्वामित्व और सम्पत्ति की भावना का प्रभाव समाजशास्त्रियों ने निर्दिष्ट किया है । वानरों में भी ये भावनाएँ वर्तमान थीं । इसीलिए क्रुद्ध लक्ष्मण को शान्त करने के लिए तारा ने कहा था कि राम का

१- डा० व्यास - रामायणकालीन समाज, पृ० ५८ ।

२- रामायण ४/६४/१० ।

कस्य प्रसादाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥

प्रिय करने के लिए सुग्रीव मुझे, रुमा को, अंगद को, राज्य को, धन-धान्य को और पशुओं को भी छोड़ सकते हैं।[1] यह सान्त्वना भवभूति के द्वारा उत्तर रामचरित में भी प्रयुक्त हुई है, जहाँ राम अष्टावक्र के माध्यम से वशिष्ठ को सान्त्वना भेजते हैं कि संसार को प्रसन्न करने के लिए मैं स्नेह, दया, सुख या जानकी तक को बिना कष्ट के छोड़ सकता हूँ।[2]

वानरों का आचार-व्यवहार आर्य संस्कृति से बहुत प्रभावित था। उनके मौलिक आचार-विचार कुछ भी रहे हों, किन्तु राम के समय तक उन्होंने आर्यों की संस्कृति तथा शिष्टाचार के नियम अपना लिये थे। वानर लोग अतिथि सत्कार तथा अन्य यथोचित अन्य व्यवहारों में आर्यों के समान ही थे। हनुमान प्रथम साक्षात्कार में ही अपने विनम्र व्यवहार तथा शालीन शब्दों से राम के प्रीति पात्र बन गये थे। इतना ही नहीं, मायावी शत्रुवेष में भी वे अपने युक्तिपूर्ण भाषण और हृदयाकर्षक शिष्टाचार से शंकित तथा सावधान सीता को भी प्रसन्न कर सके थे।

वानरों का पारस्परिक व्यवहार भी शिष्टाचार तथा विनम्रता से परिपूर्ण था। लंका से हनुमान के लौटने पर उनके साथियों ने जो अभिनन्दन किया वह इसका प्रमाण है। आर्य गुरुजनों की उपस्थिति में भी वानर लोग यथोचित शिष्टाचार का पालन करते थे।

१- रामायण - ४/३५/१२।

रुमां मां चांगदं राज्यं धनधान्यवसूनि च।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥

२- उत्तर रामचरित १/१२।

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

सुग्रीव ने राज्याभिषेक के बाद राम का विनम्रता पूर्वक अभिवादन किया था। बाली की अन्त्येष्टि तथा सुग्रीव के राज्याभिषेक का वर्णन सिद्ध करता है कि वानर-जाति अपने धार्मिक संस्कारों से सर्वथा आर्य-संस्कृति का पालन करती थी।

वानर-जाति में वैवाहिक सम्बन्ध तथा यौन-सम्बन्धों में अनियमितता अवश्य थी। इस क्षेत्र में आर्य संस्कृति का प्रभाव उन पर बहुत अधिक नहीं था। बाली और सुग्रीव का वैवाहिक जीवन इस बात का उदाहरण है कि वानरों में वैवाहिक सम्बन्ध की शिथिलता कभी-कभी अवैध सम्बन्धों का रूप धारण कर लेती थी। राम ने आर्य-संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में बाली को फटकारा था कि तुम सनातन धर्म का त्याग करके अपने छोटे भाई की स्त्री रुमा का, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, काम वश उपभोग करते हो। इसीलिए मैंने तुम्हारा वध किया है। राम पुनः कहते हैं कि जो पुरुष अपनी कन्या, बहन, या छोटे भाई की स्त्री के पास कामबुद्धि से जाता है, उसका वध करना ही उपयुक्त दण्ड है।[1]

वानरों का पारिवारिक प्रेम रामायण में कई स्थलों पर निर्दिष्ट किया गया है।[2] स्पष्टतः उनमें अपने परिवार और अपनी टोलियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति की भावना थी। कुछ वानरों में नैतिकता की बहुत ऊँची भावनाएँ भी दिखायी गयी हैं। उत्तरदायी सीता-न्वेषण में लगे हुए हनुमान रावण के अन्तःपुर में सोयी हुई पर-स्त्रियों को देखकर चिंतित होते हैं कि उन्हें देखने से मेरा धर्म नष्ट हो गया किन्तु उन्हें यह विचार आया कि मैंने

१- रामायण ४/१८/२२।

औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः।

प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः॥

२- वही ४/५४/७-८ तथा ६/१२०/५-६।

उन्हें कामबुद्धि से नहीं देखा । इस प्रसंग में हनुमान एक दार्शनिक विवेचन करते हैं कि सभी इन्द्रियों की शुभ या अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति का कारण मन ही होता है और यदि मन सुव्यवस्थित है तो अधर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[1]

यद्यपि यह जाति अनार्य के अन्तर्गत थी किन्तु आर्य संस्कृति का प्रायः सभी क्षेत्रों में इस पर बहुत प्रभाव था । इसीलिए इसकी सामाजिक नीति आर्योचित थी ।

आर्यों का समाज-दर्शन

उपर्युक्त विवेचनों में आर्येतर जातियों के समाज-दर्शन का निरूपण किया गया। रामायण के कवि वाल्मीकि ने मूल रूप से आर्यों के समाज को ही उपन्यस्त करना चाहा है और अन्य वर्गों पर भी उस धर्म के परिप्रेक्ष्य में इस दर्शन का आरोपण किया है । आर्यों का समाज-दर्शन परम्परागत था, वैदिक वाङ्मय से निर्धारित था । वेदों के प्रति रामायण काल में लोगों की बड़ी श्रद्धा थी तथा वेदोक्त विचारों को लोग परमाप्त मानते थे । वर्ण की उत्पत्ति का प्रश्न हो, या वर्णों के कर्तव्यों का विवेचन हो -- सर्वत्र वेद परम्परा का ही आश्रय लिया गया है । वाल्मीकि ने वर्ण-व्यवस्था को अविकल रूप से स्वीकार कर विभिन्न वर्णों की मर्यादाओं और गौरव की धारणाओं को रामायण में भी स्थापित किया है ।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न पर वाल्मीकि वैदिक धारणा का समर्थन करते हैं कि विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा

१- रामायण ५/११/४२ ।

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥

चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए ।[1] इस वर्णन में वैदिक परम्परा से चारों वर्णों का परस्पर सामंजस्य दिखाना कवि का उद्देश्य रहा है । सभी वर्ण मूलतः एक ही पुरुष के विभिन्न अंग हैं केवल कार्य-प्रणाली तथा क्षेत्र का अन्तर होने के कारण एक ही समाज के स्वगत भेद को वे निरूपित करते हैं ।

वाल्मीकीय रामायण में चारों वर्णों के सम्मान का निर्देश किया गया है ।[2] अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि ने सभी वर्णों की सापेक्षता का सुन्दर चित्र खींचा है, जो अन्यत्र दुर्लभ है । वे कहते हैं कि क्षत्रिय ब्राह्मणों का मुख देखते थे कि उनका क्या आदेश होता है । वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करते थे और शूद्र अपने कर्तव्य का पालन करते हुए तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न रहते थे --

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वधर्मनिरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः ॥[3]

वर्णों का परस्पर इस रूप में सामंजस्य आर्यों के समाज-दर्शन का तात्कालिक रूप था । महर्षि विश्वामित्र की कथा से वाल्मीकि ने अपने समाज की यह व्यवस्था दिखाने का प्रयास किया था कि वर्ण का निर्धारण कर्म से होता है, जन्म से नहीं ।[4] किन्तु रामायण के अन्य स्थलों के प्रामाण्य पर यह सिद्ध नहीं होता । उनमें वंश-परम्परा को ही वर्ण

१- ऋग्वेद १०/९०/१२ तथा रामायण ३/१४/३० ।

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा ।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्या पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः ॥

२- रामायण १/१२/२० ।

३- वही १/६/१९ ।

४- वही १/५२/६० ।

निरूपण का आधार माना गया है । अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि विभिन्न वर्णों के जो कर्तव्य और अधिकार हैं उनका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। किसी भी स्थिति में उनका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए । अपने-अपने धर्म में लगा रहना राम-राज्य की विशिष्टता थी ।[1] दशरथ के राज्य में भी यही व्यवस्था थी ।[2] भरत भी अपने प्रभाव से प्रजा में इस प्रकार का विधान रखे हुए थे कि कोई भी धर्म का उल्लंघन नहीं कर सकता था ।[3]

इन सब प्रसंगों से प्रतीत होता है कि रामायणकालीन समाज-दर्शन भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा से जुड़ा हुआ था जहाँ वर्ण-विशेष का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के निर्धारित कर्मों को करने के लिए प्रतिबद्ध था । अपने इन्हीं कर्मों का पालन करके कोई व्यक्ति लोक-परलोक दोनों स्थलों में यश का भागी बनता था ।[4]

धर्मशास्त्रों में आर्य-वर्णों को द्विजाति कहा गया है, जिसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन संस्कार होने के अनन्तर वेदाध्ययन के लिए, जो दीक्षा होती थी वह उनके दूसरे जन्म के रूप में स्वीकृत थी । यह विशिष्ट सुविधा शूद्रों को प्राप्त नहीं थी । रामायण में द्विज और द्विजाति का बहुधा उल्लेख हुआ है, किन्तु कहीं भी ब्राह्मण से भिन्न वर्ण के लिए ये शब्द नहीं आये हैं तथापि ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों को कई कर्मों की दृष्टि से समान स्तर पर देखा गया है । वेदों का अध्ययन, यज्ञानुष्ठान तथा दान -- ये इन

१- रामायण १/१/८६ - चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ।

२- वही - ५/३५/१२ चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन् ।

३- वही ४/१८/१० - यस्मिन् नृपति शार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेत् धर्मविप्रियम् ॥

४- वही ३/६/१२-१४ ।

तीनों वर्णों के लिए समान रूप में विहित कर्म थे ।

रामायण में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर दुर्बल बतलायी गयी है ।[1] फिर भी उनमें इतना अन्तर नहीं आया था कि उनके द्वारा धारण किये जानेवाले वस्त्रों तथा उपकरणों में गुण या परिमाण का अन्तर दिखाया जा सके । स्मृतिकारों ने भले ही अन्तर की व्यवस्था की थी,[2] किन्तु रामायण में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता ।

वर्णों का परस्पर सौहार्द भाव रामायण में अनेकशः चित्रित हुआ है । क्षत्रिय राज ब्राह्मणों को अपनी सभाओं में रखते थे । इसलिए समस्त क्षत्रिय जाति के लिए ब्राह्मण सहयोगी के रूप में स्वीकृत थे । इन तीनों वर्णों में उपहारों का आदान-प्रदान होता था । अनसूया(अत्रि ऋषि की पत्नी) सीता को वनवास काल में माल्य, वस्त्र, आभरण आदि देती है ।[3] दूसरी ओर रामचन्द्र भी वन जाने के समय ब्राह्मणों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति उपहार के रूप में देते हैं ।

रामायण में दो ही प्रसंग इस सौहार्द की सामान्य भावना के अपवाद के रूप में प्राप्त होते हैं । परशुराम ब्राह्मण थे और क्षत्रियों के भयंकर शत्रु थे ।[4] दूसरा आख्यान विश्वामित्र का है, जो वशिष्ठ (ब्राह्मण) के शत्रु थे । इन दो आख्यानों को सामान्य सामाजिक स्थिति नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें स्वार्थ का संघर्ष मूल में था जिसके कारण शत्रुता बनी थी ।

इसी प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों के सामंजस्य का वर्णन प्राप्त होता है कि वैश्य

१- रामायण १/६/१८ ।　　२- मनुस्मृति २/४१-७ ।

३- रामायण २/११८/१८-९ ।　　४- रामायण १/७४/२२ ।

लोग क्षत्रियों के कृताचरण में सहायक थे अर्थात् राज्य की आर्थिक धुरी का वहन करते थे । शूद्रों के विषय में यह कहा गया है कि वे तीनों वर्णों की सेवा अपने कार्यों के द्वारा करते थे ।

वाल्मीकीय रामायण में वर्णों की स्थिति और उनके कार्यों के निर्देश यह सिद्ध करते हैं कि वाल्मीकि को भी वर्ण-व्यवस्था के मूल में श्रम-विभाजन की भावना ही मान्य थी । वर्णों के कर्तव्यों में स्पष्ट विभाजक रेखा का अंकन करना इसी का परिचायक है । राम-राज्य में कोई व्यक्ति अपने निर्दिष्ट कर्म को छोड़कर दूसरे वर्ण के कर्मों को स्वीकार नहीं करता था । इसका उदाहरण हमें विश्वामित्र के उपाख्यान में मिलता है । यज्ञ-याग कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था । जब वशिष्ठ के पुत्रों ने राजा त्रिशंकु के यज्ञ में पुरोहित बनना अस्वीकार कर दिया तब त्रिशंकु ने किसी अन्य को अपना पुरोहित बनाने की इच्छा प्रकट की । इसे वशिष्ठ पुत्रों ने अपने एकाधिकार पर प्रहार समझा और कुपित होकर राजा को चाण्डाल हो जाने का शाप दिया । जब विश्वामित्र ने (जो तबतक ब्राह्मणत्व नहीं पा सके थे) त्रिशंकु को यज्ञ कराना स्वीकार कर लिया तब देवताओं ने उस यज्ञ की बलि लेने में असमर्थता प्रकट कर दी क्योंकि जिस यज्ञ में क्षत्रिय पुरोहित हो और यजमान चाण्डाल हो उस यज्ञ की बलि देवता कैसे ले सकते हैं ।[1]

इससे स्पष्ट है कि जिस यज्ञ का संचालन परम्परागत ब्राह्मण पुरोहित नहीं कराते थे वह यज्ञ समाज की दृष्टि में अमान्य तथा बहिष्करणीय था । इससे वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों की दृढ़ता भी सिद्ध होती है ।

१- रामायण - १/५९/१३ ।

क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ।
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ॥

श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वर्ण-व्यवस्था जन्म से ही मानी जाती थी , न कि कर्म से । इसीलिए कभी-कभी आपद्धर्म या अन्य आवश्यकताओं के कारण जब किसी वर्ण के सदस्य दूसरे वर्णों के कर्मों को स्वीकार करते थे तब भी वे अपने मूल वर्ण के सदस्य बने रहते थे । उदाहरणार्थ ब्राह्मणों को आध्यात्मिक कार्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहने का अधिकार दिया गया था । वे वेदाध्ययन, अध्यापन, यजन-याजन, दान तथा प्रतिग्रह के कार्य में लगे रहते थे किन्तु कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिए उपयुक्त कार्यों के अतिरिक्त भी वे दूसरे कार्य करते थे । अयोध्या के आचार्य सुधन्वा अर्थशास्त्र विशारद तथा युद्ध विद्या में निपुण थे जिनकी तुलना महाभारत के द्रोणाचार्य से की जा सकती है । वन-वास-काल में राम ने बड़ी श्रद्धा से उनका स्मरण किया था ।[1] इसी प्रकार त्रिजट ब्राह्मण वैश्यों के समान हल और कुदाल चलाकर अपनी जीविका का उपार्जन करता था ।[2] उसका यह कार्य हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था किन्तु महाभारत के समाज ने ब्राह्मण का कृषि कर्म वर्जित कर दिया था ।[3]

मनु ने ब्राह्मणों के लिए आपत्काल में जीविका के दस उपाय बतलाये हैं-[4] विद्या, शिल्प, पारिश्रमिक पर कार्य, नौकरी, पशुपालन, वस्तु-विक्रय, कृषि-, सन्तोष, भिक्षा त

१- रामायण २/१००/१४ ।

इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ।

२- वही २/३२/२९ ।

तत्रासीत्पिंगलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललांगली ॥

३- महाभारत सभापर्व १२/१९ ।

४- मनुस्मृति १०/११६ । विद्याशिल्पंभृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यंकुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥

कुसीद (ब्याज पर धन देना)। वस्तुस्थिति यह थी कि यज्ञों में दक्षिणा और उदार पुरुषों से दान आदि मिलने के अवसर अनिश्चित रहते थे और उन्हीं पर सर्वथा निर्भर रहना ब्राह्मणों के लिए सम्भव नहीं था । इसके अतिरिक्त सभी ब्राह्मणों के लिए वर्षों तक अध्ययन करके सांगोपांग वेदवेत्ता बनना भी सुगम नहीं था । इसीलिए कई ब्राह्मण परिस्थितिवश अध्यापन, पौरोहित्य और दक्षिणा के शास्त्र-सम्मत साधनों से भिन्न आजीविका के लिए अन्य मार्गों का भी आश्रय लेते थे ।

इसीलिए महर्षि अत्रि ने ब्राह्मणों के दस प्रकार बतलाये थे --देव-ब्राह्मण (प्रतिदिन स्नान, संध्या पूजा आदि करनेवाले), मुनि ब्राह्मण (वन में रहकर कन्द मूल पर जीनेवाले), द्विज ब्राह्मण (वेदान्त पढ़ते हुए विरक्ति रखनेवाले), क्षत्र-ब्राह्मण (युद्ध करनेवाले), वैश्य ब्राह्मण (कृषि पशुपालन, व्यापार करनेवाले), शूद्र ब्राह्मण (नमक, दूध, घी, मधु और मांस बेचनेवाले), निषाद ब्राह्मण (चोर, डाकू तथा सर्वभक्षी), पशु-ब्राह्मण (ज्ञान शून्य किन्तु यज्ञोपवीत का अहंकार रखनेवाले), म्लेच्छ ब्राह्मण (सामाजिक स्थलों में विघ्न डालनेवाले), चाण्डाल ब्राह्मण (क्रिया संस्कार आदि से शून्य)।[1] अत्रि ने उपहासपूर्वक कहा है कि वेदविहीन लोग व्याकरणादि शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्रहीन लोग पुराणों का अध्ययन करते हैं, उससे भी हीन होने पर खेती करते हैं और उसके अभाव में भक्त बन जाते हैं ।[2]

१- अत्रिस्मृति ३७३-३८३ ।

२- अत्रिस्मृति ३८४ ।

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः ।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति ॥

इस विवेचन के क्रम में रामायणकालीन ब्राह्मणों के पाँच भेद प्राप्त होते हैं --

(१) <u>नगरवासी ब्राह्मण</u> -- ये प्रतिदिन स्नान, संध्या, जप, होम, अतिथि-सत्कार, देवपूजा और बलिवैश्वदेव करते थे । ये सत्यवादी और सदाचारी थे । ये वेदों के विद्वान् तथा अग्निहोत्री थे ।[1]

(२) <u>वनवासी ब्राह्मण</u> -- ये वन में रहकर तपस्या करते, फल मूलों पर निर्वाह करते और प्रतिदिन श्राद्ध करते थे । अपने वनवास काल में राम जिन ऋषियों के सम्पर्क में आये थे वे नदी के किनारे आश्रमों में रहनेवाले और वैखानस मार्ग का अनुसरण करनेवाले मुनिगण थे ।[2]

(३) <u>ब्रह्मवादी ब्राह्मण</u> -- ये लोग वेदान्त का अध्ययन करते हुए अनासक्त रहकर सांख्य-योग का चिन्तन करते थे । राम को वन में ऐसे ब्राह्मण तपस्वी मिले थे, जो ब्रह्मतेज से युक्त तथा हठयोग की विभिन्न क्रियाओं में लगे हुए थे ।[3] दशरथ ने अपने अश्वमेध यज्ञ में भी ब्रह्मवादी ऋत्विजों को आमंत्रित किया था ।[4]

(४) <u>शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण</u> -- ये क्षत्रियों के समान शस्त्रधारण और युद्ध करते थे ।

(५) <u>श्रमजीवी ब्राह्मण</u> --जो कृषि तथा गोपालन करके जीविका चलाते थे ।

इन विभिन्न कर्मों से सम्बद्ध होने पर भी पारम्परिक कार्यों से जुड़े हुए ब्राह्मणों का सम्मान निश्चित रूप से अधिक था । उनकी आध्यात्मिक साधना ही उनके महत्त्व

१- रामायण १/५/२२ ।

२- वही ३/६/२-६ ।

२- वही २/५६/१५ ।

४- वही १/१२/४-५ ।

का कारण थी । राज्य की व्यवस्था हो या मंत्रणा का कार्य हो ब्राह्मणों की सहायता अनिवार्य मानी जाती थी । ब्राह्मणों का व्यक्तित्व पवित्र माना जाता था । उनका किसी प्रदेश में रहना सौभाग्य का सूचक था और किसी प्रदेश को छोड़ना दुर्भाग्य माना जाता था । सुमंत्र ने कैकेयी को चेतावनी दी थी कि यदि तुम भरत को राज्य दिलाने का दुराग्रह करोगी तो कोई ब्राह्मण तुम्हारे राज्य में नहीं रहेगा ।[1] ब्राह्मणों के शाप से भय, उनके हितों की रक्षा की व्यवस्था इत्यादि ब्राह्मणों के महत्व को अंकित करते हैं । धर्मशास्त्रों तथा अन्य साहित्य ग्रन्थों के समान रामायण में भी ब्राह्मणों की महत्ता का गान किया गया है ।

इस विषय में पाण्डुरंग वामन काणे का कहना है कि ब्राह्मणों ने जान-बूझकर अपनी महत्ता नहीं बढ़ा ली थी । उन्हें अन्य वर्णों के द्वारा यदि सम्मान नहीं मिलता और वह शताब्दियों तक अक्षुण्ण नहीं चलता रहता तो उन्हें इतनी प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती थी । उनके पास सैन्यबल नहीं था कि जो चाहते कर लेते । वस्तुतः उनकी जीवनचर्या से ही उन्हें महत्ता मिली । आर्य-साहित्य के विशाल समुद्र को भरने और स्थिर रखनेवाले ब्राह्मण ही थे । युगों से प्रवाहित होनेवाली संस्कृति के वे संरक्षक थे । इसलिए आर्य जाति ब्राह्मणों को समस्त सुविधाएँ देती थीं तथा उनके प्रति विनम्र रहती थी ।[2]

वाल्मीकीय रामायण में भी ब्राह्मणों के सामाजिक प्रभाव के कारणों का विश्लेषण प्राप्त होता है । वे लोग अपना प्रभाव पाशविक शक्ति अथवा छल-कपट के सहारे नहीं

१- रामायण २/३५/११ ।

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति ।

तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥

२- पी० वी० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), खण्ड १, पृ० ११५ ।

अपितु आदर्श चरित्र के बल पर बनाये रखते थे । वेदों का स्वाध्याय और धर्म सम्मत आचरण उनके जीवन का मूल मंत्र था । उनके द्वारा अपनायी गयी ब्राह्मण-संस्कृति एक अनुशासन पूर्ण संस्कृति थी । जिस ऊँचे बौद्धिक और नैतिक स्तर से ब्राह्मण अपने प्रभाव का संचार करते थे और जो अधिकार अन्य वर्णों ने स्वेच्छा से उन्हें दिये थे, उन्हें पाने के लिए ब्राह्मणों को दरिद्रता और भिक्षाटन का व्रत तक अंगीकार करना पड़ता था । अयोध्या के ब्राह्मण पवित्र, स्वकर्मनिरत, जितेन्द्रिय, दान और अध्ययन में लगे हुए तथा प्रतिग्रह स्वीकार करनेवाले थे ।[1]

राजाओं से मिले हुए दान और उपहार का उपयोग वे सांस्कृतिक निधि के संवर्धन और रक्षण में किया करते थे । अपने पाण्डित्य, बौद्धिक प्रतिभा और कर्मकाण्ड के ज्ञान के कारण वे शैक्षणिक क्षेत्र और धार्मिक अनुष्ठानों में अनिवार्य हो गये थे । अपनी योग्यता के साथ आज्ञा पालन कराने का नैतिक बल भी उनमें था । स्वार्थसिद्धि से वे सर्वथा विरत थे । अपनी शक्ति का मूल अपने चारित्रिक बल को समझते थे । असत्य भाषण, हिंसा और किसी प्राणी के प्रति पापाचरण से वे सर्वथा मुक्त थे ।[2]

आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए जिस प्रकार समाज को भारतीय-संस्कृति ने ब्राह्मण-वर्ग प्रदान किया था, उसी प्रकार इसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय-वर्ग की अनिवार्यता भी मानी थी । वैदिक-युग में ही ब्रह्म और क्षत्र को परस्पर पूरक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया

१- रामायण - १/६/१३ । स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥

२- वही ७/७३/७ । न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम् ।
सर्वेषां प्राणिनां पापं न स्मरामि कदाचन ॥

था । देश को आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से सुरक्षित रखकर जहाँ क्षत्रिय लोग धर्म के संवर्धन में ब्राह्मणों का सहयोग करते थे, वहाँ प्रजापालन के पवित्र कार्य में भी ये संलग्न रहते थे । राम के अनुसार दान देना, यज्ञों में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में प्राण-त्याग करना क्षत्रियों के कर्त्तव्य थे ।[1]

राम ने क्षत्रियों के कार्यों में तपस्वियों की रक्षा को प्रमुख बतलाया था । उनके अनुसार वे लोग इसी लिए शस्त्र धारण करते थे कि कोई दुःखी होकर आर्त्तनाद न करे ।[2] आर्य संस्कृति के प्रतीक रूप गौ तथा ब्राह्मण की रक्षा क्षत्रिय के लिए विशिष्ट कर्त्तव्य माना गया है ।[3] रामायण में केवल क्षत्रियों को ही राजा बनने का अधिकार दिया गया है क्योंकि बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में जो विभिन्न वर्णों को रामायण पाठ का फल बतलाया गया है उसमें क्षत्रियों के लिए भूमिपति का पद प्राप्त करना विहित है ।[4]

शारीरिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण अपनी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए क्षत्रिय स्वयं परिश्रम करते थे । वे किसी दूसरे का दान स्वीकार नहीं करते । प्रतिग्रह केवल ब्राह्मणों का धर्म माना गया था । रामायण में एक प्रसंग आया है जहाँ गुह निषाद राम को खाने-पीने के लिए विविध वस्तुओं का उपहार देता है, किन्तु राम क्षत्रिय धर्म का स्मरण करके उन उपहारों में कुछ भी स्वीकार नहीं करते । वे इस प्रसंग में यह भी कहते हैं कि हमलोग प्रतिग्रह नहीं करते, सदा दान ही करते

१- रामायण २/४०/७ - वृत्तं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ॥

२- वही ३/१०/३ उत्तरार्ध - क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ।

३- वही १/२५/१५(उ०) - गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्

४- वही १/१/१०० - स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।

हैं ।[1] क्षत्रियों के लिए यज्ञानुष्ठान का बहुत महत्त्व था, क्योंकि एक ओर इससे पुण्य की प्राप्ति होती थी और दूसरी ओर ब्राह्मणों की जीविका भी इससे चलती थी ।

क्षत्रियों का सम्मान-भाव ब्राह्मणों के प्रति बहुत अधिक माना गया था । इसलिए अन्य दृष्टि से क्षत्रिय राजा कितना भी माननीय क्यों न हो, वह ब्राह्मणों के समक्ष किसी उत्कृष्ट आसन या वाहन पर रहना उचित नहीं समझता था । अयोध्या से बाहर जाते समय राम के रथ के पीछे जब आर्त्तस्वर में विलाप करते हुए ब्राह्मण चल रहे थे तो उन पर दृष्टि पड़ते ही राम रथ से उतर गये । द्विजातियों को पैदल चलते देखकर स्वयं रथ पर चढ़े रहने की इच्छा राम को नहीं हुई ।[2]

रामायण को मुख्यतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रशंसा करनेवाला काव्य कहा गया है । इसलिए इसमें वैश्यों की चर्चा अपेक्षाकृत बहुत कम है ।[3] वैश्यों का उल्लेख रामायण में केवल वर्णों की सूची पूर्ण करने के लिए है । फिर भी यत्र-तत्र बिखरे हुए वर्णनों से यह संकेत मिलता है कि उनकी जीविका का साधन कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य व्यापार था । इन कार्यों में संलग्न रहकर ही सामान्य प्रजा सुखी और उन्नतिशील हो सकती थी । राम ने भरत से अयोध्या का कुशल प्रश्न करते हुए पूछा था -

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषि गोरक्षजीविनः
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥[4]

१- रामायण २/८७/१६-७ ।

न हि तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।
न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।

२- वही २/४५/१७-८ ।

~~नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा~~ ।

३- डा० रामाश्रय शर्मा - सोशियो पोलिटिकल स्टडी ऑफ वाल्मीकि रामायण, पृ० २२ ।

४- रामायण २/१००/४७ ।

यहाँ यद्यपि स्पष्टतः वैश्यवर्ण का उल्लेख नहीं है किन्तु धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट कर्मों का उल्लेख होने के कारण यह प्रश्न वैश्य वर्ण के विषय में किया गया होगा ऐसा समझा जा सकता है । इस श्लोक में आये हुए वाक्य "लोकोऽयं सुखमेधते" से वैश्यों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय में सामान्य प्रजाजन को "विशः" कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी सामान्य प्रजाजन का निर्देश हुआ है । यह प्रजा ही कालान्तर में "वैश्य" वर्ण के रूप में रूढ़ हो गयी । इसलिए कृषि कर्म से सम्बद्ध कृषक, गोरक्षा से सम्बद्ध गोप तथा वाणिज्य से सम्बद्ध वैश्य -- इन तीनों को सामान्य प्रजा (स्वाध्याय तथा रक्षा के विशिष्ट कार्यों से भिन्न समूह) के रूप में माना गया था । यह सामाजिक विकास के क्रम में स्थिर हुआ कि वैश्यों को कृषि और गोरक्षा के कार्यों से पृथक् रखकर केवल वाणिज्य व्यवसाय से सम्बद्ध माना जाय । इस विकास का एक सोपान रामायण की उपर्युक्त पंक्ति में प्राप्त होता है । इस प्रसंग में आगे राम यह भी कहते हैं कि राजा को धर्मपूर्वक सभी देशवासियों की रक्षा करनी चाहिए ।[1] यहाँ भी "विषयवासी" शब्द के द्वारा उपर्युक्त प्रजाजन या वैदिक विशः का संकेत किया गया है ।

वैश्यों के विषय में इसलिए राम पूछते हैं कि उनकी इष्ट-प्राप्ति (तुष्टि) और अनिष्ट परिहार में तुम सहायक होते हो या नहीं ? इस प्रकार वैश्य-वर्ग के अन्तर्गत जीविकोपार्जन के विविध स्रोतों का उपयोग करनेवाले प्रजाजन का संकेत रामायण में किया गया है, किन्तु अयोध्या में व्यापारियों की दूकानों का भी उल्लेख हुआ है । राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्या में जो सजावट का कार्य हुआ था उसमें राजमार्गों पर नाना प्रकार की विक्रेतव्य (पण्य) वस्तुओं से सुशोभित वणिजों की दूकानों पर ध्वजा-

----

1- रामायण 2/100/48 - रक्षा हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ।

शोभा कुमारी

व्यापार का उल्लेख है ।[1] स्पष्टतः वैश्य और वणिक् के बीच अन्तर दिखाया गया है । वैश्य जहाँ सामान्य प्रजा का बोधक है वहाँ वणिक् व्यापार, क्रय-विक्रय तथा उद्योग से सम्बद्ध वर्ग है ।

विभिन्न शिल्पों से अपनी जीविका चलानेवाले लोगों को रामायण में नैगम कहा गया है । चित्रकूट की यात्रा में भरत के साथ बहुत से नैगम तथा अन्य प्रजाजन जाते हैं । उनकी लम्बी सूची रामायण में प्राप्त होती है ।[2]

रामायण-काल में ज्ञान-विज्ञान का विकास बहुत अधिक हो चुका था जिससे उद्योग-धन्धे भी पर्याप्त परिष्कृत हो चुके थे । वैश्यों के अनेक वर्ग विभिन्न शिल्पों से जुड़ गये थे । प्रत्येक शिल्प से सम्बद्ध लोगों की श्रेणियाँ बन चुकी थीं । इन श्रेणियों में ऊँचा या नीच का व्यवहार कहीं भी निर्दिष्ट नहीं होता । आवश्यकता के अनुसार इन्हें बुलाया जाता था ।

शूद्रों का कार्य सभी वर्णों की सेवा करना माना गया था, किन्तु उनके साथ दुर्व्यवहार नहीं होता था । सेवा के क्रम में यह वर्ग भी अनेक शिल्पों से जुड़ गया था । प्राचीन भारत में शूद्रों के दो प्रकार होते थे --(१) वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य,जो शास्त्रविहित स्वकर्तव्यों का पालन न करके शूद्रवत् जीवन व्यतीत करते थे । अशिक्षित ,संध्या-अग्निहोत्र विरहित और असंयमी ब्राह्मण भी शूद्र माने जाते थे । (२) शूद्र माता-पिता से उत्पन्न सन्तान ।[3] इस प्रकार कर्म-शूद्र और जन्म-शूद्र दो प्रकार के शूद्र होते थे । किसी वंश में शूद्र हो जाने पर उस परिवार के वर्णाधिकार कई पीढ़ियों तक छीन लिये जाते थे।

१- रामायण २/६/१२

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।

२- रामायण २/८३/११-१६ । ३-डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पतंजलिकालीन भारत,पृ० १५२।

रामायण में भी ऐसे कर्म-शूद्रों का वर्णन है । त्रिशंकु के आख्यान[1] में कर्म-शूद्र को चाण्डाल कहा गया है । घोर पाप करने पर मनुष्य अस्पृश्य और चाण्डाल बना दिया जाता था । त्रिशंकु को वशिष्ठ के पुत्रों ने इसी प्रकार चाण्डाल होने का शाप दिया था । चाण्डाल को लोग अस्पृश्य मानते थे । इससे स्पष्ट है कि उच्च वर्ण के लोग जाति-च्युत हो सकते थे । यह भारतीय समाज-दर्शन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि उच्च वर्ण से निम्न वर्ण में तो किसी को स्थापित किया जा सकता है लेकिन निम्न वर्ण से उच्च वर्ण में स्थापना संभव नहीं है । विश्वामित्र को ऊँचा उठाये जाने की कथा एक अपवाद है जो कठिन आत्मानुशासन और आत्मशुद्धि के उपदेश से सम्बद्ध है ।

रामायण का समाज-दर्शन इस प्रसंग में यही है कि सभी वर्ण अपने विहित कर्मों से संतुष्ट होकर अपने-अपने कर्मों में लगे, दूसरे के कर्मों में निरत न हों ।[2] इस प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की दृढ़ता तथा प्रत्येक व्यक्ति का अपने वर्ण-धर्म के अनुसार ही आचरण रामायण की समाज-नीति थी । वाल्मीकि ने अपने काव्य द्वारा इसे समर्थित करने का सफल प्रयास किया था ।

:::

१- रामायण १/५८ ।
२- रामायण ६/१२८/१०२ ।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।

अध्याय २

रामायण में शिक्षा-दर्शन

शिक्षा का महत्त्व -- आश्रम-व्यवस्था और संस्कारों से शिक्षा का सम्बन्ध -- आश्रम-व्यवस्था की दार्शनिक मीमांसा -- संस्कारों का महत्त्व -- ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि -- गुरु का कर्त्तव्य -- शिष्यों का चुनाव -- शिष्यों पर कठोर अनुशासन -- तात्कालिक शिक्षालयों का स्वरूप -- आश्रमों के कुलपति --राजा की अनिवार्यता -- नगर में शिक्षालय -- विशिष्ट अवसरों पर शिक्षा-प्राप्ति का परिवेश -- शिक्षा के प्रकार और विषय-- शिक्षा की पद्धति -- शिक्षा के उद्देश्य --स्त्री-शिक्षा ।

:0:

शिक्षा मानव-जाति को अन्य प्राणियों से पृथक् करती है । इसका सीधा सम्बन्ध ज्ञानार्जन से है । शिक्षा की दृष्टि से भारतवर्ष विश्व के सभी देशों से अधिक उन्नत रहा है । व्यक्तिगत और सामाजिक उत्कर्ष के लिए मानवों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती थी । उपनिषदों में विद्या और अविद्या का अन्तर दिखाते हुए विद्या की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है । छान्दोग्योपनिषद् (१/१/१०) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१/५/१६) में विविध युक्तियों से विद्या की प्रशंसा की गयी है । ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा करने में वेदांग साहित्य बहुत मुखर है । निरुक्त के प्रथमाध्याय में इसकी पूरी विवेचना हुई है । वहाँ यह भी कहा गया है कि साधारण कार्यों में ही जब विद्या के कारण पुरुष-पुरुष में अन्तर होता है तब वेद के विषय में तो यह और भी सही है कि अधिक विद्यावाला व्यक्ति प्रशस्य होता है ।[1]

शिक्षा ही विद्या को व्यक्ति से जोड़ती है । शिक्षा से व्यक्ति का अपना जीवन तो परिष्कृत और उन्नत होता ही है, समाज भी सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है । मानव का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्म-प्रवण नैतिक मूल्यों से युक्त होकर उच्च आदर्शों से संवलित और पूर्ण व्यक्तित्ववाला बनता है । किसी समाज के स्त्री-पुरुषों का जीवन

१- निरुक्त १/१६ ।

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुष विशेषो भवति ।

पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।

यह निर्देश करता है कि उस समाज में शिक्षा-व्यवस्था किस प्रकार की रही है ।

श्रेष्ठ शिक्षा-व्यवस्था वाले समाज में उदात्त चरित्रवाले स्त्री-पुरुष होते हैं और इसके विपरीत निकृष्ट शिक्षा-व्यवस्था वाले समाज के सदस्य भी निम्न कोटि के होते हैं । इस मानदण्ड पर यदि हम वाल्मीकिकालीन शिक्षा-व्यवस्था की परीक्षा करें तो यह प्राप्त होगा कि जिससमाज ने राम, सीता, भरत, अत्रि, अनसूया, वशिष्ठ और वाल्मीकि जैसे चरित्र दिये वह अवश्य ही उत्कृष्ट शिक्षा- व्यवस्था से सम्पन्न रहा होगा ।

भारतीय सन्दर्भ में शिक्षा का सम्बन्ध आश्रम-व्यवस्था तथा संस्कारों से भी है । भारतीय संस्कृति के दो अमूल्य उपादान आश्रम और संस्कार हैं । सम्पूर्ण मानव-जीवन को निरन्तर आत्मशिक्षण और अनुशासन में व्यवस्थित करना आश्रम व्यवस्था का आधार था । इस शिक्षण काल को आश्रम कहा गया था । मनु ने मानव-जीवन को एक सौ वर्षों का सामान्य रूप से स्वीकार करके इसे चार समान भागों में विभक्त किया और इससे आश्रम-व्यवस्था का विकास हुआ । प्रथम भाग को ब्रह्मचर्याश्रम, द्वितीय भाग को गृहस्थाश्रम, तृतीय भाग को वानप्रस्थाश्रम और चतुर्थ भाग को संन्यासाश्रम कहा गया । "आश्रम" शब्द का प्रयोग संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता, किन्तु इससे निष्कर्ष नहीं निकला कि सूत्र ग्रन्थों में पाये जानेवाले जीवन विभाग वैदिक युग में अज्ञात थे ।[१]

वस्तुतः वैदिक वाङ्मय का विकास क्रम ही चार आश्रमों का आधार है । ब्रह्मचर्याश्रम में वैदिक संहिताओं का स्वाध्याय, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकूल

१- पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), भाग १, पृष्ठ २६४ ।

जीवन-क्रम बिताना, वानप्रस्थाश्रम में आरण्यक ग्रन्थों का अनुशीलन तथा संन्यासाश्रम में उपनिषदों का अध्ययन तथा ज्ञानार्जन -- यह आश्रम-व्यवस्था के मूल में था । ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान (अध्याय ३३) में सर्वप्रथम आश्रम-सम्बन्धी संकेत किये गये हैं । नारद कहते हैं -- मल धारण करना(गृहस्थाश्रम), मृग चर्म पहनना(ब्रह्मचर्याश्रम), दाढ़ी-मूँछ रखना (वानप्रस्थाश्रम) तथा तपस्या (संन्यास आश्रम) से क्या लाभ है ? हे ब्राह्मणो ! पुत्र की इच्छा करो, यह प्रशंसनीय लोक है ।[1]

सूत्र-काल में आश्रम की निश्चित व्यवस्था हो गयी थी । रामायण के समय भी चारों आश्रम व्यवस्थित थे क्योंकि अयोध्याकाण्ड में इन आश्रमों का उल्लेख करते हुए गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ बतलाया गया है -- चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्[2] ।- एक दूसरा संकेत भी इसी काण्ड में मिलता है, जहाँ विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, विवाहितों के लिए गृहस्थाश्रम, अर्थोपार्जन से विरत वनवासी के लिए वानप्रस्थाश्रम और संसार-त्यागी के लिए संन्यासाश्रम का परोक्ष संकेत किया गया है ।[3]

चारों आश्रमों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रियों के द्वारा तीन विभिन्न पक्ष रखे

१- हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् १/५ ।

किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः ।

पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं सवै लोकोऽवदावदः ॥

२- रामायण २/१०६/२२ ।

३- वही २/१००/६२-३ ।

गये हैं जिन्हें समुच्चय, विकल्प और बाध कहते हैं ।[1] समुच्चय पक्ष के अनुसार प्रत्येक आश्रम का अनुसरण अनुक्रम से होता है अर्थात् ब्रह्मचर्य से आरम्भ करके गृहस्थ और वानप्रस्थ की अवस्थाओं को पार करके अन्त में संन्यास लिया जाता है । किसी एक आश्रम को छोड़कर आगे बढ़ जाना या संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ हो जाना उचित नहीं है ।[2] इस पक्ष के अनुसार कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य के बाद तुरत संन्यास नहीं ले सकता । मनु इस पक्ष के प्रबल समर्थक हैं ।

विकल्प पक्ष के अनुसार ब्रह्मचर्य के अनन्तर विकल्प की बात करते हैं । अर्थात् प्रथम आश्रम के बाद ही कोई परिव्राजक बन सकता है या गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है । इसका संकेत मीमांसा दर्शन के धर्मजिज्ञासा अधिकरण के भाष्य में मिलता है तथा वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब आदि भी इसके समर्थक हैं ।

बाध नामक तीसरा पक्ष गौतम, बौधायन आदि धर्मशास्त्रियों के द्वारा स्थापित पक्ष है । इसके अनुसार एक ही आश्रम वास्तविक है --गृहस्थाश्रम । ब्रह्मचर्य तो इसके लिए केवल तैयारी है । गृहस्थाश्रम की अपेक्षा अन्य आश्रम कम महत्त्वपूर्ण हैं । याज्ञवल्क्य स्मृति (३/५६) की मिताक्षरा टीका में इन तीनों सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक मत को वैदिक समर्थन प्राप्त है । किसी भी एक मत का प्रयोग किया जा सकता है ।[3]

१- पी० वी० काणे का उक्त ग्रन्थ, पृ० २६६ ।

२- ब्रह्मसूत्र ३/४/४० ।

३- याज्ञवल्क्य स्मृति - विज्ञानेश्वर रचित मिताक्षरा (३/५६), पृ० ४४३-

एतेषां समुच्चय विकल्प बाध पक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वाविशेषात् विकल्पः ।

इस प्रसंग में वाल्मीकीय रामायण का पक्ष निश्चित रूप से वाधपक्ष में आता है, जहाँ गार्हस्थ्य को चारों आश्रमों में श्रेष्ठ कहा गया है । वाल्मीकि का समर्थन मनु ने भी किया है कि जिस प्रकार सभी जन्तुओं के व्यवहार के लिए वायु आवश्यक है, उसी प्रकार सभी आश्रमों का व्यवहार गृहस्थाश्रम पर आश्रित है ।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि गृहस्थ व्यक्ति से ही तीनों आश्रमवाले प्रतिदिन ज्ञान और अन्न की प्राप्ति करते हैं इसलिए एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है ।[2]

"आश्रम" शब्द "श्रम" धातु से बना है जिसका अर्थ है --परिश्रम करना । इसलिए आश्रम का अर्थ हो सकता है परिश्रम करने का स्थान तथा परिश्रम करने की क्रिया ।[3] आश्रम का शाब्दिक अर्थ है --ठहरने का स्थान। इसलिए जीवन की यात्रा में विश्राम करते हुए आगे की यात्रा के लिए प्रस्तुत होने के स्थल को आश्रम कहा जाता है । भारतीय दृष्टि में व्यक्ति का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है । इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए लम्बी यात्रा में जो स्थान-स्थान पर विश्राम की व्यवस्था है -- वही आश्रम है ।[4]

चार आश्रमों के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के विविध साधनों पर बल दिया जाता था । प्रथम आश्रम शिक्षा के द्वारा आवश्यक क्षमता प्रदान करता था । द्वितीयाश्रम धर्म, अर्थ, काम के संयुक्त उपयोग के द्वारा दृढ़ भूमिका बनाता था । तृतीयाश्रम,विरक्ति की ओर

१- मनुस्मृति ३/७७ ।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

२- वही ३/७८ ।

३- इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स में "आश्रम" पर ड्यूसन का लेख ।

४- पी०एच० प्रभु - हिन्दू सोशल ऑरगनाइजेशन (पंचम संकरण), पृ० ८१ ।

प्रवृत्त करके सांसारिक मोह-माया आदि दोषों से मुक्ति दिलाता था तो अन्तिम आश्रम सर्व-वैराग्य के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए चरम अर्थात् प्रकृष्ट साधन बनता था । इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध शैक्षिक स्थिति से था । आश्रमों का आरम्भ ही व्यक्ति की शिक्षा से होता था । इस लिए प्राचीन भारत में शिक्षा का महत्त्व अपने उचित सन्दर्भ में आंकित किया गया था । आश्रमों के विषय में किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार कर , ब्रह्मचर्याश्रम की उपेक्षा नहीं हो सकती थी । इसलिए इस माध्यम से "अनिवार्य शिक्षा" की आधुनिक विचार-धारा का रूप इस आश्रम-व्यवस्था में देखा जा सकता है ।

शिक्षा से सम्बद्ध दूसरा सांस्कृतिक उपादान संस्कार है - जिसे भारतीयों ने अत्यन्त प्राचीन काल में स्वीकार कर लिया था । संस्कारों के द्वारा मानव को जन्म-पूर्व से ही परिष्कृत किया जाता था और जीवन के गहन कर्मक्षेत्र में प्रवेश के पूर्व तक संस्कारों से उसे भरकर उत्तरदायित्वों को सहने की शक्ति दी जाती थी । अधिकांश संस्कार व्यक्ति के जीवन के प्रथम चरण में अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पूर्व ही सम्पन्न हो जाते थे जिनसे गृहस्थ का जीवन पवित्र और परिष्कृत होकर बिताया जा सके । गृहस्थाश्रम में आने पर नयी संतति (पीढ़ी) के लिए वे ही संस्कार पुनः दुहराये जाते थे । मृत्यु के समय सम्पन्न होनेवाला अन्त्येष्टि संस्कार ही शेष रहता था ।

इस प्रकार संस्कारों से मानव-जीवन को संपुटित करके स्वच्छंदता के लिए कोई भी अवकाश नहीं रहने दिया जाता था । वस्तुतः आश्रम और संस्कार के कठोर अनुशासन में भारतीय सामाजिक व्यवस्था आदर्श रूप में थी । जीवन का कोई भी क्षेत्र इसीलिए एक विशिष्ट परम्परा से बंधा हुआ था । इसे आधुनिक विचारक रूढ़ि कह सकते हैं, किन्तु इस तथाकथित रूढ़ि के अन्तर्गत ही हमारे नैतिक आदर्श निहित थे,

समाज की नैतिक सुरक्षा थी ।

संस्कारों के अनेक उद्देश्य बतलाये गये हैं । मनु के अनुसार गर्भाशय के दोषों को शैशव संस्कारों के द्वारा हवन आदि से दूर किया जाता है । वेदाध्ययन, व्रत, होम, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पंच महायज्ञ और वैदिक यज्ञों से मानव शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है ।[1]

संस्कारों की संख्या की दृष्टि से उनके अनेक उद्देश्य थे । उपनयन जैसे संस्कारों का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों से था । उनसे गुणी व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं । उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था क्योंकि संस्कार करनेवाला व्यक्ति एक नये जीवन का आरम्भ करता था जिसके लिए वह नियमों के पालन के लिए प्रतिश्रुत होता था । नामकरण, अन्नप्राशन तथा निष्क्रमण संस्कारों का लौकिक महत्त्व था । उनसे स्नेह तथा उत्सवों की प्रधानता झलकती थी । कर्णवेध संस्कार रहस्यात्मक तथा प्रतीकात्मक महत्त्व रखते थे ।[2] विवाह संस्कार का महत्त्व तो व्यक्तियों को आत्म-निग्रह, आत्म-त्याग और परस्पर सहयोग की भूमि पर लाकर समाज को चलते जाने देना था ।

शिक्षा से सम्बद्ध संस्कारों में विद्यारम्भ, उपनयन तथा समावर्तन मुख्य माने गये थे । इन तीनों का अनुष्ठान ब्रह्मचर्याश्रम के महत्त्वपूर्ण चरण माने जाते थे । विद्या-रम्भ संस्कार का वर्णन स्मृतियों में नहीं मिलता । कुछ टीकाकारों के द्वारा उद्धृत मार्कण्डेय

1- मनुस्मृति २/२८ । स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

2- पी० वी० काणे का उक्त ग्रन्थ, पृ० १७७ (भाग १) ।

पुराण में इसका उल्लेख है ।[1] सम्भवतः विद्यारम्भ उपनयन के पूर्व घर में ही अक्षरज्ञान देने से सम्बद्ध संस्कार था ।

सामान्यतः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि उपनयन संस्कार से आरम्भ करके समावर्तन संस्कार तक थी । रामायण में ब्रह्मचर्याश्रम की चर्चा अनेक बार हुई है ।[2] किन्तु उपनयन या समावर्तन संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता । फिर भी यज्ञोपवीत जैसे शब्दों के मिलने से उपनयन संस्कार की स्थिति प्रतीत होती है । इसी प्रकार "विद्यास्नात" जैसे शब्दों के मिलने से यह सिद्ध होता है कि समावर्तन संस्कार के बाद लोग स्नातक बनते थे ।

राम आदि भाइयों के वेदाध्ययन तथा धनुर्वेद में निष्ठित होने का उल्लेख बालकाण्ड में अति शीघ्रता में किया गया लगता है ।[3] दशरथ ने इसी अवसर पर उनके विवाह की चिन्ता की थी और इसी बीच में विश्वामित्र आ गये थे । उस समय राम की अवस्था १५ वर्ष की थी ।[4] इससे प्रकट होता है कि विशिष्ट परिस्थितियों में सोलह वर्ष की आयु के पूर्व भी ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति हो सकती थी । राम की परिस्थिति दशरथ की वृद्धावस्था में उत्पन्न होने के कारण विशिष्ट ही कही जा सकती है । इसीलिए दशरथ उनके शीघ्र विवाह के लिए चिंतित होंगे । किन्तु कवि वाल्मीकि ने इस वात्सल्य में व्याघात डालकर विश्वामित्र के साथ राम को भेज कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि राम का

१- पी०वी० काणे का उक्त ग्रन्थ, पृष्ठ १०८ (भाग १)।

२- रामायण १/९/५ (इवेजितं ब्रह्मचर्येण), २/१२/८५ (वेदैश्चब्रह्मचर्यैश्च)।
२/८२/११ (चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः) इत्यादि ।

३- वही १/१८/३० । ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ।
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ॥

४- रामायण १/१८/३८ (तेषां दार क्रिया प्रति चिन्तयामास)
१/२०/२ (ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः)।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

अध्ययन इस आयु में भी पूरा नहीं हुआ था । भले ही, राम आदि भाई अपनी औपचारिक शिक्षा समाप्त कर स्नातक बन चुके थे, किन्तु अभी भी धनुर्वेद की विविध कलाओं और रहस्यों को सीखना शेष था । इसीलिए विश्वामित्र के आश्रम में उन्हें शिक्षा के लिए निवास करना पड़ा ।

विश्वामित्र की संगति में राम-लक्ष्मण ऐसे वातावरण और व्यक्तियों के सम्पर्क में आये जो उनके स्वस्थ नैतिक और मानसिक उत्थान के लिए परम सहायक सिद्ध हुए । राम की अवस्था उस समय ऐसी थी जब व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण अपरिपक्व होता है । उनका मस्तिष्क संवेदनशील था । विश्वामित्र के साथ जाते समय राम में बालकोचित लक्षण प्रकट हुए थे । मार्ग में उन्हें जो-जो दृश्य या घटनाएँ मिलती थीं उनके प्रति उनका कुतूहल जाग उठता था ।[1] उन घटनाओं से वे प्रभावित होते और समाधान विश्वामित्र से ही प्राप्त करते थे । विश्वामित्र ने राम के मस्तिष्क की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को समझ कर उनका समाधान भी किया था । अयोध्या के राजप्रासाद के विलासपूर्ण वातावरण से पृथक् मुनि ने राम में प्रातःकाल उठने तथा स्नानादि से निवृत्त हो देव-कार्य करने की आदत डाली[2] तथा उनके हृदय में प्राकृतिक उपादानों के प्रति प्रेम भी उत्पन्न किया ।

रामायणकालीन शिक्षा-दर्शन का यह विशिष्ट लक्षण था कि गुरु अत्यन्त योग्य

१- रामायण १/२४/६ ।

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छमुनि पुंगवम ।
वारिणो भिद्यमानस्य किमयंतुमुलोऽध्वनि ॥

२- वही १/२२/२-३ ।

शिष्यों को चुनता था, जो उसे सदाचारी, सुयोग्य और उत्साही जान पड़ते । विश्वामित्र ने राम को इसलिए साथ ले जाने का आग्रह किया था कि वे आदर्श शिष्य तथा योग्य योद्धा प्रतीत हुए । राम को सुपात्र समझकर ही उन्होंने बला और अतिबला नामक विद्याएँ दी थीं ।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम में रहने से व्रतों और नियमों का पालन करना पड़ता था । इनसे कष्ट तो अवश्य होता था किन्तु मानव-जीवन के उत्कर्ष के लिए उन्हें लोग सहते थे । कुछ लोग अपने बच्चों के इन कष्टों से काफी दुःखी रहते थे तथा शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील होते थे । दशरथ ने राम के प्रति वात्सल्य से अभिभूत होकर ऐसी ही बात कैकेयी से कही थी कि राम वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य तथा गुरुओं के कारण पहले से ही पर्याप्त कष्ट भोग चुके हैं । अब विवाह के अनन्तर भोगकाल में भी उन्हें वन के कारण कष्ट ही भोगना पड़ेगा -- यह असह्य है ।[2] किन्तु दशरथ का यह वचन अतिशय प्रेम का सूचक है । सभी लोग ऐसी भावना से अभिभूत नहीं होते थे । सामान्यतः ब्रह्मचर्याश्रम में प्राचीन परम्परा के अनुसार लोग रामायण काल में भी आते थे जहाँ प्रत्येक बालक को गुरु के संरक्षण में आश्रम के नियमों का पालन करते हुए वेदों की शिक्षा प्राप्त होती थी ।

शिक्षा-प्राप्ति के लिए आदर्श स्थान आश्रम ही होते थे । यह भारतीय शिक्षा-दर्शन

१- रामायण १/२२/११-२० ।

२- वही २/१२/८५ ।

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
भोग काले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ।

की सामान्य धारणा थी । ऋग्वेद संहिता में बुद्धि के विकसित होने के लिए पर्वत की उपत्यका तथा नदियों के संगम-स्थल को सर्वाधिक उपयुक्त बतलाया गया है ।[1] रामायण में भी विभिन्न आश्रमों का संकेत है, जो प्रायः नदियों के तट पर वनों में अवस्थित थे । धार्मिक और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के साथ-साथ ये आश्रम शिक्षा-केन्द्रों के रूप में देश की सेवा करते थे । सरयू, गंगा, यमुना तथा गोदावरी नदियों के तटों पर अवस्थित आश्रमों का उल्लेख बहुधा हुआ है । इन आश्रमों में गुरु के चारों ओर शिष्य उपस्थित रहते थे । रामायण के आरम्भ में वाल्मीकि के मुख से निकले हुए श्लोक[2] का गान करते हुए उनके शिष्यों का वर्णन है जो उस श्लोक को गा-गाकर बहुत प्रसन्न और विस्मित हो रहे थे ।[3]

इसी प्रकार भरद्वाज का आश्रम गंगा-यमुना के संगम पर था ।[4] यहाँ चित्रकूट जाते हुए राम और भरत दोनों ही रुके थे । भरद्वाज अपने आश्रम में मुनियों और शिष्यों से भी घिरे हुए थे । भरद्वाज ने राम से अपने आश्रम में रहने का अनुरोध किया था कि वनवास की अवधि वे वहीं रहकर बिता लें । किन्तु राम ने यह कहकर उस अनुरोध को अस्वीकार किया था कि वहाँ एकान्त नहीं रहेगा ।

१- ऋग्वेद संहिता ८/६/२८ ।

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥

२- रामायण १/२/१५ ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

३- वही १/२/३९-४० ।

४- वही २/५४/८ ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

आश्रम के प्रत्येक पदार्थ के प्रतिअध्यक्ष का ध्यान रखता था चाहे वह पशु-पक्षी ही क्यों न हों । तभी तो वसिष्ठ ने भरद्वाज से शरीर, अग्नि, शिष्यों, वृक्षों, मृगों तथा पक्षियों का भी कुशल पूछा था ।[1] शिक्षा प्रदान करनेवाले आश्रमों में वहाँ के बालकों तथा तरुणों पर नाना प्रकार के संस्कार डाले जाते थे । मुख्य मार्गों पर अवस्थित आश्रमों में आतिथ्य की भी अविच्छिन्न परम्परा वर्तमान थी क्योंकि कोई-न-कोई विशिष्ट अतिथि आते ही रहते थे । अतिथि राजा भी हो सकता था या विशिष्ट विद्वान् । सामान्य अतिथियों की तो कोई गणना ही नहीं थी । आश्रम के अध्यक्ष जिज्ञासु अतिथियों की शंकाओं का समाधान भी करते थे तभी तो राम के द्वारा तपोवन में उपयुक्त आवास का पता पूछने पर भरद्वाज ने कहा था कि चित्रकूट ही वह उपयुक्त स्थान हो सकता है । भरत का भी समुचित आतिथ्य भरद्वाज ने किया था । इससे आश्रमाध्यक्ष की प्रतिष्ठा तथा उनके व्यवस्थापक रूप का परिचय मिलता है ।

आतिथ्य की इस दैनिक परम्परा से शिष्यों पर बहुत प्रभाव पड़ता था । वे यह सीखते थे कि विशिष्ट जनों का कैसे सम्मान करना चाहिए ।

रामायण-काल में आश्रमों के कुलपति आध्यात्मिक तेज या ब्रह्मवर्चस से परिपूरित होते थे । इसीलिए कुछ आश्रमों में राक्षसों का वश नहीं चलता था । अगस्त्य ऋषि का आश्रम ऐसा ही सुरक्षित समझा जाता था । यहाँ मिथ्यावादी, क्रूर या शठ जी नहीं सकते थे । परस्पर विरोधी जीव भी एक साथ निवास करते थे ।[2] अगस्त्य के आश्रम में भी शिष्यों

1- रामायण २/९०/८ ।

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥

2- रामायण ३/११/९१-२ ।

का उल्लेख हुआ है ।[1] सम्पूर्ण दक्षिणापथ तेजस्वी मुनियों के आश्रमों से भरा हुआ था, किन्तु इन आश्रमों में बहुधा ऋषियों की आध्यात्मिक दिनचर्या में विजातीय तत्वों के कारण बहुत बाधा पहुँचती थी । इन आश्रमों में एक सामान्य दृश्य था कि ऋषि समूह नदियों में स्नान करते थे । वे जलपूर्ण कलशों से सूर्य को अर्घ्य प्रदान करते और उन कलशों को जल से भरकर भींगे हुए वल्कलों में अपनी कुटी की ओर लौटते थे ।[2]

आश्रमों में अग्निहोत्र और स्वाध्याय दैनिक कर्म के रूप में किये जाते थे। वेदों के घोष से आश्रम निनादित होते थे ।[3] ऋषिगण अपने शिष्यों से घिरकर नाना प्रकार की कथा-वार्ता किया करते थे ।[4]

गुरुओं की सेवा शिष्यों के द्वारा किस प्रकार की जाती थी इसका यत्र-तत्र उल्लेख रामायण में मिलता है । वाल्मीकि के एक शिष्य भरद्वाज का वर्णन रामायण में मिलता है जो अत्यन्त विनीत और शास्त्रज्ञ भी थे । वाल्मीकि के मुख से जो काव्य-जगत् का प्रथम छन्द विनिःसृत हुआ था उसे भरद्वाज ने ही समर्थित किया कि यह वाक्य श्लोक रूप ही होना चाहिए ।[5] भरद्वाज वाल्मीकि के लिए जल से भरा हुआ कलश लेकर पीछे-पीछे चल रहे थे । वे अपने गुरु के लिए वल्कल वस्त्र भी लेकर तमसा तीर पर गये थे । गुरु ने

१- रामायण ३/१२/६,८,१२,१४,१५,२१ - "ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत्।

२- रामायण २/११९/४ ।

३- वही ३/१/६ ।

४- वही २/५४/३४ ।

५- रामायण १/२/१९ ।

उनसे कहा था कि कलश यहीं पर रख दो, मेरा वल्कल मुझे दे दो । मैं तमसा तीर्थ में स्नान करूँगा ।[1] रामायण में स्पष्टतः आश्रमों में गुरु से शिष्य द्वारा शिक्षा ग्रहण का वर्णन नहीं मिलता, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शिष्य केवल गुरु-शुश्रूषा के कार्य में ही लगे रहते थे । सम्भवतः व्यावहारिक शिक्षा पर उस समय बहुत अधिक बल दिया जाता था । शिष्यों के आश्रमवास का क्षण-क्षण शिक्षा-ग्रहण तथा अनुशासन सीखने में बीतता था । मुनि लोग अवश्य ही शास्त्रों के अध्यापन के लिए पृथक् समय निकालते होंगे क्योंकि रामायणकालीन सूत्र-साहित्य में तात्कालिक अध्ययन-अध्यापन की सम्यक् चर्चा की गयी है । इस प्रसंग में अनध्याय दिवस अर्थात् अवकाश के दिन भी होते थे । उन दिनों में ही आश्रम के दूसरे कार्यों का सम्पादन होता था ।

रामायण के अनुशीलन से यह पता लगता है कि वाल्मीकि शिक्षा की सुव्यवस्था के लिए राजा का होना आवश्यक मानते थे । राजा की संस्था या उसका पद शिक्षा से सम्बद्ध सभी उपादानों की सुरक्षा के लिए आवश्यक माना गया था । प्राचीन काल से यह आभाणक चला आ रहा है कि शस्त्र से सुरक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र का चिन्तन चलता है --

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।

रामायण में भी अराजक जनपद की अनेक दुर्गतियों में वसिष्ठ यह बतलाते हैं कि राजा से रहित जनपद में वनों या उपवनों में भी शास्त्र पटु लोग परस्पर शास्त्रार्थ नहीं कर सकते ।[2]

१- रामायण १/२/६ ।
न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ।

२- रामायण २/६७/२६ ।
नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥

रामायणकालीन शिक्षा-दर्शन का यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि सुशासित राज्य में ही विद्वान् निश्चिन्तता से शास्त्र-चर्चा कर सकते हैं । राज-विप्लव से शिक्षा में विप्लव होता था । इसका निर्देश परवर्ती साहित्य में भी प्राप्त होता है । भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' के प्रथम अंक में लिखा है कि लावणक ग्राम में अग्निदाह के कारण वहाँ के सभी विद्यालय बन्द हो गये थे । वस्तुतः अग्निदाह राजा पर संकट का सूचक था । शिक्षालय से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं था । किन्तु प्राचीन काल में राजतंत्र की प्रधानता होने के कारण राजा के सुख-दुःख में प्रजा को भी साथ देना पड़ता था, शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अप्रभावित नहीं रहता था । विशेष रूप से वे शिक्षालय जो राज्य पर ही आश्रित थे उनकी स्थिति राजा के संकट के समय में दयनीय बन जाती थी ।

यद्यपि राजा के संकट में राज्य के समस्त संस्थानों के समान शिक्षालय भी प्रभावित होते थे, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि राजाओं का शिक्षालयों पर कोई विशेष नियंत्रण होता था । शिक्षा-संस्थान सर्वथा स्वाधीन होते थे । कई आश्रम तो इतने गहन वनों में होते थे कि वहाँ राजाओं के ऊपर आये हुए संकट का पता ही बहुत बाद में लगता था । इन आश्रमों की सहानुभूति राजा से अवश्य होती थी । राजा भी समय-समय पर आकर आश्रमों के विषय में पूछ-ताछ किया करते थे, आर्थिक सहायता भी वे किया करते थे । शिक्षा-संस्थानों पर फिर भी आचार्य या कुलपति का ही मुख्य अधिकार रहता था । वे ही शिक्षा-संस्थान के सर्वस्व थे ।

रामायण में अयोध्या को शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र बताया गया है । षडंग वेदों के पारंगत विद्वान् उस पुरी में सदा निवास करते थे ।[1] अयोध्या में कठ कलाप

१- रामायण १/५/२२,६/५ ।

आदि वैदिक शाखाओं का अध्ययन करनेवाले बहुत से ब्रह्मचारी रहते थे । वे नित्य स्वाध्याय में लगे रहने के कारण दूसरा कोई काम नहीं करते थे । एक प्रकार से वे आलसी हो गये थे । किन्तु स्वादिष्ट अन्न की इच्छा रखते थे ।[1] वहाँ ऐसे ब्रह्मचारियों का भी बहुत सम्मान था । उस नगरी में तैत्तिरीय शाखा के अध्येता छात्रों का भी शिक्षालय था । इस शिक्षालय के एक वैदिक आचार्य अभिरूप का उल्लेख रामायण में किया गया है ।[2] राजपुरोहित वसिष्ठ भी एक विद्यालय अयोध्या में चलाते थे । इस विद्यालय का सम्बन्ध राजकुमारों से भी था । सम्भवतः राज-परिवार के लोग इसी विद्यालय में शिक्षा लेते थे। अगस्त्य और कौशिक ऋषि के आश्रम भी राजधानी में वर्तमान थे । इन सभी आश्रमों का उल्लेख अयोध्या काण्ड के बत्तीसवें सर्ग में किया गया है । जहाँ राम वन-गमन के अवसर पर विभिन्न विद्यालयों के आचार्यों को बुलाकर उपहार प्रदान करते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि रामायण-काल में नगरों में भी विद्यालय स्थापित थे । अयोध्या शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र बन चुकी थी । ब्रह्मचारियों का एक महासंघ भी राजधानी में चल रहा था । जन सामान्य की समस्याओं और संकटों के विषय में अपना विचार देने के लिए राजा के पास ब्रह्मचारियों का संघ आया करता था । अयोध्या में विद्यालयों की अधिकता के कारण कोई भी नगरवासी अशिक्षित नहीं था । इससे प्रतीत होता है कि अपनी राजधानी को शिक्षित रखने की चिन्ता राजा को अवश्य होती थी । विद्वानों

१- रामायण २/३२/१८-१९ ।

ये चेमे कठकालापाः बहवो दण्डमाणवाः ।
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥

२- रामायण २/३२/१५ ।

को पुरस्कार तथा सम्मान देकर राजा अपनी राजधानी में रखते थे जिससे नगर निवासी प्रजा शिक्षित हों। अयोध्या की प्रजा में इसीलिए नियमपूर्वक स्वाध्ययन की प्रवृत्ति के साथ-साथ विद्याभ्यसन भी था। नगर-निवासी बहुज्ञ थे, वे नगर के किनारों पर अवस्थित उपवनों में अर्थात् आश्रमों में जाकर विवादग्रस्त विषयों पर तर्क-वितर्क किया करते थे। इन विवादों में परम्परागत और नवीन सिद्धान्तों को माननेवालों के बीच ज्ञानवर्धक विचार-विमर्श होते थे। रामायण में आये हुए जाबालि[1] और लोकायतिकों[2] के उल्लेख से ऐसे विवादों का पता लगता है। आश्रमों में प्रायः बड़े-बड़े विद्वानों का आगमन होता था तथा उनके भाषण सुनने के लिए नागरिक लोग भी आते थे। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का विवाद प्रसिद्ध था। इन भाषणों और वाद-विवादों से शिक्षा का अनौपचारिक प्रचार होता था। प्रायः यज्ञ समारोहों में ऐसे अवसर जुटाये जाते थे कि विद्वानों की गोष्ठियाँ हों और गम्भीर ज्ञान-चर्चाएँ हों। समाज के प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को अपना कौशल दिखाकर यश प्राप्त करने का समुचित अवसर यज्ञों में मिलता था। दशरथ ने अश्वमेधयज्ञ किया था जिसमें विविध विषयों के विशेषज्ञ आये थे। वाल्मीकि कहते हैं कि न केवल यज्ञविधि के ज्ञाता विद्वान् लोग अपितु कुशल स्थपति, शिल्पकार, ज्योतिषी, चित्रकार, नट, नर्तक, बहुश्रुत पुरुष आदि विविध जनों की सेवाएँ उस समय प्राप्त हुई थीं।[3] उस यज्ञ में निमंत्रित सभी लोग वेद-वेदांग के ज्ञाता, व्रतधारी, सुपठित तथा वाक्कुशल थे। यज्ञ-

---

१- रामायण २/१०८/२८।

२- वही २/१००/३८-३९।

३- वही १/१३/६-८।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

कर्म के बीच-बीच में वाग्मी लोग परस्पर विजय की कामना से हेतुवादों पर शास्त्रार्थ करते थे ।[1] यज्ञ का अवसर वैसा ही होता था जैसा आधुनिक काल में प्राच्य विद्या-सम्मेलन आदि के अवसरों पर होता है । मुख्य कार्य-कलाप के अन्तराल में विद्वानों के परस्पर वार्तालाप ज्ञान बढ़ाने के बहुत बड़े साधन होते हैं ।

उत्तरकाण्ड में राम के अश्वमेध का जो वर्णन वाल्मीकि ने किया है वह एक विशाल शैक्षिक तथा यज्ञीय प्रदर्शन के रूप में है । उसमें आमंत्रित व्यक्तियों की सूची बहुत लम्बी है ।[2] इनमें बड़े-बड़े मुनि, राजा, वेदज्ञ, पौराणिक, वैयाकरण, स्वरों के लक्षण जाननेवाले, संगीतज्ञ, सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता, निगमागम के विद्वान्, छन्दशास्त्र के पण्डित, स्वरों की मात्राओं के विशेषज्ञ, ज्योतिषी, कर्मकाण्डी, विभिन्न भाषाओं तथा संकेतों को समझनेवाले, तर्क प्रयोग में निपुण नैयायिक, युक्तिवादी और सर्वज्ञ विद्वान्, चित्रकला के ज्ञाता, धर्मशास्त्र और सदाचार के पण्डित, दर्शन और कल्पसूत्र के व्याख्याता, वेदान्त के अर्थ को प्रकाशित करनेवाले, ब्रह्मवेत्ता इत्यादि अनेक क्षेत्रों से सम्बद्ध लोग आमंत्रित थे । इससे ज्ञात होता है कि यज्ञ का समारोह शिक्षितों के मिलने-जुलने का एक महान् समारम्भ था । शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं अपितु उसका परस्पर आदान-प्रदान करना भी है । पतंजलि ने विद्या के उपयोग के चार प्रकार बतलाये हैं -- आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार ।[3] इसी प्रकार ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में भी आठ सिद्धियों के अन्तर्गत अध्ययन, शब्द तथा ऊह -- इन तीनों को रखते हुए सुहृत्-प्राप्ति नामक चौथी सिद्धि भी बतलायी है ।[4] विधिपूर्वक गुरु के मुख से अध्यात्म विद्या को अक्षर के रूप में ग्रहण

१- रामायण १/१४/१९ । कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान्बहूनपि ।
प्राहुः सुवाग्मिनो धीराः परस्पर जिगीषया ॥

२- रामायण ७/९४/४-१० । ३- पतंजलि-महाभाष्य(पं० चारुदेव शास्त्रीकृत हिन्दी अनुवाद), पृ० २० ।

४- ईश्वरकृष्ण सांख्य कारिका, कारिका ५१ ।

करना स्वाध्याय या अध्ययन है । पुनः अर्थों के द्वारा उसका विचार करना ऊह नामक सिद्धि है । ऊह का अर्थ है --तर्क । दूसरे शास्त्रों के अविरोधी तर्कों से अपने शास्त्र के अर्थ की परीक्षा करना ऊह है । यहाँ संशय उठाकर पूर्व पक्ष की स्थापना की जाती है और तब उसका निराकरण करके उत्तर पक्ष को व्यवस्थित किया जाता है । किन्तु केवल इतने से काम नहीं होता । न्यायपूर्वक स्वपरीक्षित अर्थ श्रद्धा का भाजन नहीं बनता, इसलिए सुहृत् प्राप्ति की भी आवश्यकता है । गुरु-शिष्य या अपने साथियों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद ही कोई सिद्धान्त स्थिर होता है । इसलिए शिक्षा का अन्तिम चरण संवाद या सुहृत्-प्राप्ति है । इससे सिद्धान्त की स्थापना में आनन्द आता है । यही कारण है कि सुहृत्-प्राप्ति को रम्यक् नाम की सिद्धि के रूप में देखा गया है ।[1]

वेदान्तियों ने भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ज्ञान की स्थिरता का परम कारण बताया है । उपनिषदों में ही इसका संकेत किया गया है ।[2] इससे सिद्ध होता है कि इस समस्त शिक्षा-परम्परा को व्यवस्थित करने के लिए विद्वत्सम्मेलन होते थे और इसके लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करके यज्ञ-समारोह किये जाते थे । आज के सम्मेलनों के समान ही रामायण काल में भी विद्वानों के सम्मेलन हुआ करते थे । अन्तर इतना ही है कि आधुनिक सम्मेलन मुख्यतः संस्थाओं या संघों के द्वारा आयोजित होते हैं जिनमें राज्य का भी विविध प्रकार से सहयोग मिलता है किन्तु तात्कालिक सम्मेलनों का आयोजन राजा की ओर से ही होता है । शिक्षा को कार्यान्वित करने का यह श्रेष्ठ अवसर था, पतंजलि के शब्दों में "व्यवहार-काल" की उत्कृष्टता इसमें होती थी ।

1- वाचस्पति मिश्र - सांख्यतत्वकौमुदी, कारिका ५१ पर ।

2- बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/५ ।

राम का अश्वमेध एक महान् विद्वत्सम्मेलन था । इसमें वाल्मीकि के शिष्यों ने अपनी रामायण-शिक्षा का मनोरम प्रदर्शन किया था । इस सम्मेलन को विभिन्न विभागों में बाँटा गया था । यज्ञभूमि को "यज्ञवाट", आश्रमों से आये ऋषि-मुनियों के निवास-स्थान को "ऋषिसंवात" तथा वाल्मीकि एवं उनकी मण्डली के लिए बने आवास को "वाल्मीकिवाट" के नाम से अभिहित किया गया था ।[1] इस प्रकार यज्ञ-स्थली में भी विद्वानों के आवास आदि की निश्चित व्यवस्था की जाती थी ।

शिक्षा के प्रकार

रामायणकालीन शिक्षा के विषयों को चार वर्गों में रखा जा सकता है -- शारीरिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा । इनके द्वारा किसी भी व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों का संस्कार-परिष्कार हो सकता था । विविध व्यक्तियों के लिए इनमें किसी एक वर्ग का अनुसरण भी पद्धति बतलाया गया था ।

शारीरिक शिक्षा विद्यार्थी को दृढ़ शरीर से सम्पन्न करती थी । रामायण के युग में युद्ध का प्राधान्य दिखायी पड़ता है । इसलिए युद्ध के अनुकूल शरीर का विकास करना भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था । इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए व्यायाम, आखेट तथा युद्ध की शिक्षा दी जाती थी । युद्ध-शिक्षा को प्राचीन भारत में 'धनुर्वेद' कहा जाता था । इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग विद्यार्थी को सीखना पड़ता था । यद्यपि यह शिक्षा सबों के लिए सुलभ थी, किन्तु राजकुमारों को इस क्रिया में दृढ़ता से निपुण बनाया जाता था । शत्रु के शस्त्रों का निवारण तथा उन पर प्रहार करने की कला

१- रामायण ७/९२/३४, ९३/२-३ ।

सैनिकों को भी बतलायी जाती थी । योग्य गुरुओं की देख-भाल में लोग धनुर्वेद का अभ्यास करते थे । युवराज को युद्ध का व्यावहारिक अनुभव दिलाने के लिए उच्च पदस्थ सैन्य अधिकारियों के साथ युद्धभूमि में भेजा भी जाता था । राम और अंगद ऐसे सैनिक अभियानों में गये थे ।[1] सैनिकों को मल्ल-युद्ध की भी शिक्षा दी जाती थी जिससे अस्त्र-शस्त्र के अभाव में भी वे लड़ सकें । सैनिक लोग अभ्यास के कारण बहुत फुर्तीले (लघुहस्ताः) हो जाते थे ।

युद्ध-शिक्षा के अन्तर्गत सैनिक बननेवाले छात्रों को हाथी, घोड़ों की सवारी और उनका नियंत्रण करना बतलाया जाता था । राम का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि वे हाथी के कंधे और घोड़े की पीठ पर बैठने तथा रथ चलाने की कला में निपुण थे । साथ ही धनुर्वेद का भी अभ्यास करते थे ।[2] सामान्यतः रथों पर चलते हुए योद्धा के सारथी रथ चलाते थे किन्तु कभी-कभी सारथी के मारे जाने पर योद्धा लोग स्वयं रथ चलाते थे । जब लक्ष्मण ने इन्द्रजित के सारथी को मार दिया तब इन्द्रजित ने स्वयं रथ और धनु दोनों चलाकर सबको विस्मित कर दिया था ।

बौद्धिक शिक्षा का अभिप्राय औपचारिक शिक्षा है । जिसके अन्तर्गत तात्कालिक विषयों की जानकारी दी जाती थी । इसमें सभी शास्त्र, कला, वार्ता तथा राजनीति के सूत्रों का ज्ञान आवश्यक था । शास्त्रों में वेद और वेदांग महत्वपूर्ण थे । वेदान्त का उल्लेख भी रामायण में हुआ है ।[3] इससे उत्तरवैदिक साहित्य का संकेत मिलता है । इसी प्रकार लौकिक साहित्य

१- रामायण २/२/१८-२० तथा ४/२९/३३ ।

२- वही १/१८/२७-८ । गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः ।
धनुर्वेदे च निरतः ।

३- वही ६/१०९/२१ ।

के अन्तर्गत काव्य, आख्यान, पुराण, इतिहास तथा तर्कशास्त्र आते थे । विभिन्न शिल्पों और कलाओं का उल्लेख सूचित करता है कि रामायण के युग में ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी ।

प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र का अध्ययन वार्ता के रूप में होता था । वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन और वाणिज्य ये तीन मुख्य विषय थे । वाल्मीकि ने अयोध्या काण्ड में तीन विद्याओं के अन्तर्गत त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का उल्लेख किया है । इससे ज्ञात होता है कि कृषि-व्यापार और पशुपालन इन तीनों का शिक्षा के अंग के रूप में पर्याप्त विकास हो चुका था । दण्डनीति को राजनीति भी कहते हैं । हनुमान ने राम को राजनीति में विशारद कहा था । विवाह के अनन्तर राम ने शासन संचालन में पिता को सहयोग देकर इस शास्त्र का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया था । जिस समय राम राजनीति का व्यावहारिक अनुभव पा रहे थे, भरत अपनी राजधानी से दूर अपने मामा के यहाँ रहते थे अर्थात् कोसलप्रदेश की राजनीति से परिचित नहीं थे । इसलिए राम ने चित्रकूट में भरत को राजधर्म का विस्तृत उपदेश दिया था जिससे कोसल के शासन में सुविधा हो।

इस प्रसंग में उपयोगी व्यावसायिक शिक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान था । आयुर्वेद के ज्ञान का इस दृष्टि से उल्लेख करना आवश्यक है । वैद्यों को उस युग में शरीर की रचना, जड़ी-बूटी तथा पशु रोगों की जानकारी थी ।[1] स्पष्टतः इन विषयों की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी । उद्योग, व्यापार तथा राजनीति व्यावहारिक शिक्षा के ही विषय थे । शिल्पों और कलाओं की शिक्षा में भी सिद्धान्त पक्ष से अधिक व्यवहार-पक्ष का ही बोलबाला था ।

१- डा० शान्ति कुमार नानूराम व्यास - रामायणकालीन संस्कृति, पृष्ठ ११२ ।

जहाँ तक नैतिक शिक्षा का प्रश्न है, वह तो शिक्षा के सभी अंगों में व्याप्त थी । चरित्रबल, सत्य और कर्तव्य के प्रति निष्ठा, शरीर और मन की पवित्रता, इन्द्रिय संयम -- ये सभी सुशिक्षित व्यक्ति के चिह्न या लक्षण माने जाते थे । गुरुकुल या आश्रमों में रहते हुए छात्र नैतिक शिक्षा को अपने आचरणों में उतार लिया करते थे । राम के युवराज पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व दशरथ ने उन्हें जो उपदेश दिये थे वे नैतिक शिक्षा के आदर्श को स्पष्ट व्यक्त करते हैं । दशरथ ने कहा था कि हे राम, तुमने अपने गुणों से समस्त प्रजा को प्रसन्न किया है, फिर भी हित की कुछ बातें सुनो । काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसनों का तुम त्याग कर दो । गुप्तचरों की सहायता से तथा स्वयं समीक्षा करके अपने सभी अनुजीवियों तथा प्रजा को प्रसन्न रखो । प्रजा का अनुरंजन करनेवाले राजा ही यशस्वी होते हैं । इसलिए चित्त को वश में रखकर उत्तम आचरणों का पालन करो ।

रामायण में कुछ रहस्यात्मक विद्याओं का भी उल्लेख है । ये विद्याएँ विशिष्ट गुरुओं के पास ही होती थीं, जो योग्य शिष्य को ही इन्हें दिया करते थे । विश्वामित्र ने राम को "बला" और "अतिबला" नामक अलौकिक विद्या दी थी जिसके प्रभाव से शारीरिक श्रम और मानसिक चिन्ता नहीं होती थी । भूख-प्यास का प्रभाव उस व्यक्ति पर नहीं होता था । किसी भी स्थिति में राक्षस उस पर आक्रमण नहीं करते थे ।[1] इन विद्याओं में भौतिक और आध्यात्मिक शक्ति देनेवाले विशिष्ट वैदिक मंत्रों का संग्रह था । "बला" विद्या में अथर्ववेद के मंत्रों का संग्रह था, तो "अतिबला" विद्या में गूढ़ दार्शनिक मंत्र थे । इनका लक्ष्य राम को दार्शनिक ज्ञान, बुद्धि की तीव्रता और वाद-विवाद में निपुणता प्रदान करना था ।[2]

१- रामायण १/२२/१३-२१ । २- वही १/२२/१६ ।

इसी प्रकार इच्छानुसार कहीं जाने की शक्ति देनेवाली, सभी प्राणियों की भाषा का बोध करानेवाली, दूर तक देखने की क्षमता देनेवाली , इच्छानुसार रूप धारण करानेवाली आकाश में विचरण करानेवाली तथा अन्यान्य ऐसी ही रहस्यमयी क्रियाएँ उस युग में प्रचलित थीं । इन्हें अथर्ववेद की मंत्र शक्ति वाली क्रियाएँ कह सकते हैं ।

रामायणकालीन शिक्षा-दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि शिक्षा का सम्बन्ध जीवन से अनिवार्यतः बना हुआ था । जीवन के उपयोग में आनेवाली शिक्षा ही शिक्षा कहलाती थी । कोई भी व्यक्ति ऐसी शिक्षा नहीं लेता था जिसका उपयोग उसे जीवन में न हो या उसकी रुचि उस विषय में न हो । राम का समस्त जीवन शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष के दृष्टान्त के रूप में वाल्मीकि ने उपस्थित किया है । शिक्षा के जो उपर्युक्त प्रकार विवेचित हुए हैं उन सबों में जीवन के आदर्श की ओर संकेत है । इसमें राम को ही दृष्टान्त बनाया गया है । गुरु प्रायः शिष्य की योग्यता और रुचि देखकर उसे उपयुक्त विषय प्रदान करें -- यह तात्कालिक शिक्षा आदर्श था ।

शिक्षा की पद्धति

प्राचीन भारतीय शिक्षा का जब विवेचन किया जाता है तब यह प्रश्न प्रायः उपस्थित होता है कि शिक्षा किस प्रकार दी जाती थी । इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह दिखाया गया है कि उपनिषदों के युग में किसी विषय को समझाने की कितनी शैलियाँ प्रचलित थीं । रामायण काल में भी उन शैलियों का प्रचार था । गुरु के आश्रम में रहने पर शिष्य की समस्त दिनचर्या शिक्षा में ही लगी रहती थी । शिष्य के सोने-जागने, खाने-पीने, नहाने-धोने सभी क्रियाओं में गुरु का आचारशास्त्रीय प्रशिक्षण चलता रहता था ।

इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि निश्चित स्थान में बैठकर गुरु कुछ नियत समय तक व्याख्यान देते होंगे और उससे शिष्य लोग अपने कर्तव्य का निर्देश पाते थे। गुरु के समस्त कार्य शिष्यों के साथ सम्पन्न होते थे। वाल्मीकि ने अपने शिष्यों के साथ मिलकर नारद जी का पूजन किया था।[1] इसी प्रकार तमसा के तट पर वाल्मीकि स्नान करने के लिए शिष्य के साथ ही जाते थे।[2] यह बात अवश्य थी कि अनेक शिष्यों में से उत्तम शिष्य को लोग साथ रखते होंगे। वाल्मीकि भरद्वाज नामक शिष्य को अपनी सेवा के लिए साथ रखते थे।

प्रायः अपने शिष्यों को लोग शास्त्रों को कण्ठाग्र करा देते थे। इसका उद्देश्य स्मरण-शक्ति का विकास करना था। वाल्मीकि ने लव-कुश को सम्पूर्ण रामायण को कण्ठाग्र करा दिया था। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रायः शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। वेदों को अपनी स्मृति के कोष में गुरु और शिष्य दोनों ही सुरक्षित रखते थे। इसलिए राम के वन-गमन के अवसर पर अयोध्या के वैदिकों ने कहा था कि हमारी बुद्धि सदा वेदमंत्रों के चिन्तन में लगी रहती है इसलिए वह बुद्धि भी वनवास का विचार करती है। वेद का ज्ञान तो सदा इन वैदिकों के हृदय में ही अवस्थित था। वह ज्ञान वन में भी वर्तमान रहेगा, अयोध्या में भी।[3]

मौखिक पद्धति की शिक्षा पूर्णतः प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत होती थी। गुरु और शिष्य के बीच पाठ्य पुस्तक के रूप में कोई व्यवधान नहीं होता था। शिष्य लोग कण्ठाग्र किये हुए वैदिक मंत्रों का उच्च स्वर से पाठ करते थे। यह पाठ वैदिक ज्ञान को

१- रामायण १/२/१।

२- वही १/२/४-८।

३- वही २/४५/२४-५।

सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक था । रात्रि के अन्तिम प्रहर में शिष्यगण मधुर स्वर से वेदों का पाठ करते थे । अन्ध मुनि ने अपने मृत पुत्र के लिए विलाप करते हुए कहा था कि अवशेष रात्रि में अध्ययन करते हुए कौन मुझे मधुर स्वर से वेदों का पाठ सुनाया करेगा ।[1] मौखिक शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य साथ-साथ पहले शास्त्र-ग्रन्थों का उच्चरण करते थे, पुनः दैनिक स्वाध्याय या अभ्यास के द्वारा छात्रगण उस कण्ठस्थ ज्ञान को स्थिर करते थे । पुस्तकों के अभाव में यह आवश्यक था । नारद जैसे लोग भी निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहते थे । स्वाध्याय का अर्थ स्वयं शिक्षण था । वह अर्जित विद्या की उपासना थी इसमें गुरु की सहायता आवश्यक नहीं थी । निरन्तर स्वाध्याय में लगे हुए लोग कुछ भी अन्य कार्य नहीं करते थे । केवल ज्ञान की परम्परा को बनाये रखते थे । वाल्मीकि ने कहा कि अभ्यास के अभाव में विद्या क्षीणकाय हो जाती है । इसलिए मौखिक शिक्षा-पद्धति का फल अभ्यास या स्वाध्याय से ही मिलता था ।

रामायणकाल की एक अन्य शिक्षा प्रणाली कथा के रूप में उपदेश देने की थी। गुरु रोचक कथा तथा उपदेशपूर्ण कथाएँ सुनाकर शिष्य को धार्मिक तथा नैतिक उपदेश देता था । इन कथाओं में महापुरुषों के जीवन से सम्बद्ध महत्वपूर्ण घटनाएँ रहती थीं । ये कथाएँ परम्परागत होती थीं । आश्रमों में रहनेवाले ऋषि-मुनि इन कथाओं के माध्यम से अपने शिष्यों की कल्पना-शक्ति का विकास करते थे । उन्हें पौराणिक साहित्य प्रदान करते थे । कथा-शैली के द्वारा शुष्क और गम्भीर ज्ञान सरस, सुबोध और मनोरम बन जाता था। शिष्यों का कुतूहल ये कथाएँ जगाती थीं । उत्सुकतावश वे अधिकाधिक सुनने और समझने

१- रामायण २/६४/१२ ।

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयंगमम् ।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥

के लिए प्रेरित होते थे । कथाओं का आश्रय लेकर गुरु अपने उपदेशों में विस्मय, उत्सुकता और नवीनता का संचार करता था । सफल शिक्षक युगों से इस कथा-शैली का आश्रय लेते रहे हैं । जिस प्रकार उपनिषदों में छोटी कहानियों के द्वारा दर्शन के दुरूह तत्त्वों को सजीव तथा आकर्षक बनाया गया है उसी प्रकार रामायण में भी इन कथाओं का आश्रय लेकर धर्म, नीति एवं दर्शन के विषयों को रोचक बनाकर उपस्थित किया गया है । विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को बहुत-सी रोचक कथाएँ सुनाकर उनका मनोरंजन तो किया ही था, उनके ज्ञान में वृद्धि भी की थी । गंगावतरण की कथा तथा शोणभद्र के तट पर निवास करते हुए राजा कुशनाभ की कथा ऐसी ही कथाएँ थीं जिनसे विश्वामित्र ने राम को पौराणिक साहित्य का परिचय दिया था ।

शिक्षा की एक अन्य पद्धति विचार-विमर्श के रूप में थी । गुरु अपने भविष्णु छात्रों को वाद-विवादों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते थे । शिक्षा के पाठ्यक्रम में वार्त्तालाप का भी बड़ा महत्त्व था । आश्रमों में या सामान्य स्थलों में जो ज्ञानवृद्ध उपस्थित होते थे उनकी संगति का लाभ छात्र लोग उठाते थे । इस दृष्टि से वाल्मीकि ने राम का वर्णन किया है जो अस्त्र चलाने का अभ्यास करते समय अवकाश के क्षणों में चरित्र, ज्ञान और आयु में बड़े सत्पुरुषों से वार्त्तालाप द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे ।[1] उस काल के वनों-उपवनों में शास्त्र चर्चाओं का अच्छा प्रचार था । इन चर्चाओं में तर्क और विश्लेषण की पद्धति अपनायी जाती थी । छात्रों के प्रशिक्षण में इन चर्चाओं का बहुत बड़ा योगदान था ।

राम की शिक्षा-दीक्षा का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने यह दिखलाया है कि

१- रामायण २/१/१२।

वनवास-काल में भी उनके ज्ञान का परिष्कार होता गया । अगस्त्य के आश्रम में भी उन्होंने कुछ शस्त्रों के प्रयोग की दैविक विधि सीखी थी ।[1] ऋष्यमूक पर्वत पर वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए राम वैदिक ब्राह्मणों के स्वाध्याय का उल्लेख करते हैं कि भाद्रपद मास आ गया यह स्वाध्याय की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणों के उपाकर्म का समय है, सामगान करनेवाले विद्वानों के अध्ययन का भी यही काल है ।

गुरुओं और आचार्यों की सेवा का अन्तिम फल यही था कि अधीत शास्त्र का सार ग्रहण कर लिया जाए । जबतक शिष्य शास्त्र का तत्त्वज्ञ नहीं बन जाता, अध्ययन से व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं होती, तबतक शुष्क पाण्डित्य का कोई फल नहीं । रावण ने इसीलिए अपने गुप्तचर शुक और सारण की असफलता पर उन्हें डाँटते हुए कहा था कि तुम लोगों ने माता-पिता, वृद्ध जनों की व्यर्थ ही सेवा की तभी तो राजशास्त्र का सारभूत उपदेश ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ रहे हो । यदि उस ज्ञान को तुमने पा लिया हो तो भी उसके सम्यक् बोध से तुम वंचित ही रहे हो, उसे भूल चुके हो और अज्ञान का भार ढो रहे हो ।[2]

इस प्रकार रावण के इन वचनों में शिक्षा का यह उद्देश्य प्रकाशित होता है कि व्यावहारिक योग्यता या पटुता न हो तो शास्त्रीय ज्ञान अज्ञान के समान है —"ज्ञानं भारः क्रियां विना" इस उक्ति को इन वचनों के द्वारा प्रकाशित किया गया है । व्यावहारिक

१- रामायण ३/१२ ।

२- वही ६/२९/९-१०।

आचार्या गुरवो वृद्धा वृथा वः पर्युपासिताः ।
सारं यद् राजशास्त्राणामनुजीव्यं न गृह्यते ॥
गृहीतो वा न विज्ञातो भारो ज्ञानस्य वाह्यते ।

ज्ञान सभी युगों में सैद्धान्तिक ज्ञान से अधिक महत्त्व रखता है । राम ने भी चित्रकूट में भरत से पूछा था -- कच्चित्ते सफलं श्रुतम् अर्थात् क्या तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान सफल है ?[1] उनके पूछने का अभिप्राय यह था कि तुम शिक्षा के शील और वृत्त इन दोनों गुणों का अभ्यास कर रहे हो या नहीं । महाभारत में श्रुत का फल शील और वृत्त को ही बतलाया गया है ।

रामायणकालीन शिक्षा के कई उद्देश्य प्रतीत होते हैं । उनमें शारीरिक शक्ति का पर्याप्त विकास प्रथम उद्देश्य था । स्वास्थ्य और शक्ति के अभाव में कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता । बाहुबल और सैनिक प्रशिक्षण के अभाव में राम की कथा का रूप ही दूसरा होता ।

वाल्मीकि ने इस आदर्श पर बहुत बल दिया है कि एकांगी ज्ञान की अपेक्षा विभिन्न शास्त्रों का व्यापक ज्ञान छात्रों को दिया जाए । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि विशेषज्ञता के स्थान पर बहुज्ञता का आदर्श महर्षि वाल्मीकि ने रखा है । जहाँ कहीं किसी के गुणों का वर्णन किया गया है, वहाँ विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान उस व्यक्ति में दिखाया गया है, चाहे राक्षसों का वर्णन हो, चाहे क्षत्रियों का ।

शिक्षा का अन्य उद्देश्य व्यावहारिक योग्यता के रूप में दिखाया गया है । यदि क्रिया में कुशलता नहीं है तो शुष्क ज्ञान निष्फल है । शिक्षा के उद्देश्यों में वाल्मीकि ने छात्र को वाक्पटु की अपेक्षा कार्यपटु बनाना ही अधिक उपयुक्त माना है । राक्षसों की गर्वोक्तियों पर राम और लक्ष्मण यही बतलाते हैं कि किसी की योग्यता पौरुष द्वारा प्रमाणित होती है, वाणी द्वारा नहीं ।

१- रामायण २/१००/७२ ।

शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक शिष्टाचार, विनम्रता, सुशीलता इत्यादि माना गया था । शिक्षा को विनय का हेतु सामान्य रूप से मान लिया गया था । कोई शास्त्रार्थ के अवसर पर खण्डन-मण्डन में कितना भी लगा हो, किन्तु विनम्रता के गुण से वह दूर नहीं होता था । यही कारण है कि राम ने जाबालि के नास्तिक मत को भी सुना और धर्म-विरोधी जान कर भी उन्हें दण्डित नहीं किया, अपितु उनके तर्कों का युक्तिसंगत उत्तर दिया ।[1]

इस प्रकार शिक्षा का परम उद्देश्य विनम्रता के रूप में विशिष्ट गुण को अपने आचरण में प्रतिष्ठित करना था जैसा कि आदर्श पुरुष राम करके दिखाते हैं । शिक्षित होने पर भी यदि स्वभाव और आचरण में सात्त्विकता, निर्मलता और विनम्रता नहीं आयी तो शिक्षा व्यर्थ है । इस प्रकार वाल्मीकि उत्तमोत्तम गुणों के आधान को शिक्षा का प्रतिफल बतलाते हैं ।

स्त्री-शिक्षा

प्राचीन भारत में शिक्षा की स्थिति की चर्चा होने पर स्त्री-शिक्षा का भी प्रश्न उठता है । प्राचीन शास्त्रों में शिक्षा के जो नियम बतलाये गये हैं वे सभी पुरुषों को दृष्टि में रखकर स्थापित हुए हैं । स्मृति-ग्रन्थों में यह कहा गया था कि कन्या का विवाह ही उसके जीवन की सफलता है, पति की सेवा ही गुरुकुल निवास का फल देती है, घर का काम-काज ही अग्निहोत्र के तुल्यफलदायक है ।[2] कन्याओं का विवाह अनिवार्य होने के

१- रामायण २/१०९/१ ।

२- मनुस्मृति २/६७ ।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

कारण सामान्यतः औपचारिक शिक्षा से वे वंचित रह जाती थीं। कुछ स्त्रियाँ अवश्य ही कुमारी रहकर अपना अध्ययन जारी रखती थीं। कन्याओं के इन दो वर्गों को क्रमशः "सद्योवधू" तथा "ब्रह्मवादिनी" कहा जाता था। प्रथम कोटि की कन्याओं को प्रार्थना, यज्ञ आदि के लिए आवश्यक वैदिक मंत्र सिखा दिये जाते थे। कौशल्या, तारा और सीता के उदाहरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। रामायण में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का भी उल्लेख है जो आजन्म अविवाहित रहकर स्वाध्याय, यज्ञ और तपस्या में लीन रहती थीं। रामायण में स्वयंप्रभा और वेदवती ऐसी ही महिलाएँ थीं।

स्वयंप्रभा मेरुसावर्णि ऋषि की पुत्री थी। वह ऋक्षबिल नामक गिरि दुर्ग के निकट अपने पिता के आश्रम में रहती थी। सीता का अन्वेषण करते हुए हनुमान तथा उनके साथियों का इस तापसी से परिचय हुआ था। वह तपस्या में लीन थी। उसने वानरों से का आतिथ्य किया था।[1] स्वयंप्रभा के समान वेदवती भी ब्रह्मचारिणी थी। वह ब्रह्मर्षि कुशध्वज की पुत्री थी। पिता की मृत्यु के बाद वेदवती मिथिला राज्य में हिमालय के निकट एक आश्रम में रहने लगी थी। उसे अपनी पारिवारिक परम्पराओं के अनुरूप वेदों तथा कर्म-काण्ड की उच्च शिक्षा मिली थी। अन्ततः उसे ऋषि का पद मिला था।[2]

सीता की शिक्षा-दीक्षा का वर्णन भी वाल्मीकि ने किया है। अपने पितृ-गृह में सीता ने साधारण शिक्षा प्राप्त की थी। नीति-कथाएँ उन्होंने पढ़ी थीं और उनके बहुत से उपदेश सीता को कण्ठाग्र हो गये थे। धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की शिक्षा भी उन्हें पितृ-गृह में मिली थी तथा प्राचीन आख्यानों का भी उन्होंने श्रवण किया था। सीता को विवाह से पूर्व अपनी माता से तथा विवाह के बाद अपनी सास से पति विषयक कर्त्तव्य से

१- रामायण ४/५१-५२ ।   २- वही ७/१७ ।

सम्बद्ध शिक्षा मिली थी ।[1] वनवास-काल में भी सीता को विभिन्न आश्रमों में मुनियों और उनकी पत्नियों से व्यावहारिक शिक्षा सीता को मिली थी । हनुमान ने इसी लिए सीता को सुशिक्षित महिला कहा था । यही कारण है कि सीता को देखते ही उनके मन में शिक्षा सम्बन्धी उपमाएँ फूट पड़ी थीं ।[2] हनुमान शोक से कृश सीता की तुलना धूमिल स्मृति से, अभ्यास न करने के कारण शिथिल पड़ी क्रिया से, व्याकरण के नियमों से रहित दुर्बोध वाणी से, प्रतिपत्त को पाठ करनेवाले व्यक्ति की क्षीण हो गयी क्रिया से करते हैं ।

इस प्रकार सीता के शिक्षा-विषयक गुणों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने तात्कालिक स्त्री-शिक्षा पर अपने विचार दिये हैं । यह बात अवश्य है कि आज के समान स्त्रियों की औपचारिक शिक्षा के लिए उस युग में व्यापक व्यवस्था नहीं थी, किन्तु अपने परिवार के अनुकूल अनौपचारिक शिक्षा स्त्रियाँ अवश्य पाती थीं, इसमें सन्देह नहीं ।

: : :

१- रामायण २/११८/७-९ ।

२- वही ५/१५/३३-९ ।

रामायण और तत्व-मीमांसा

पदार्थ-विवेचन -- पंचमहाभूतों का वर्णन --सांख्य-दर्शन से तुलना -- भूत-कथन-- जगत् की व्यवस्था -- रामायणकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों के बोधक शब्द-- अनुपपत्ति, न्याय, अव्यक्त, त्रिगुणवाद, निसर्ग, भाव, भूतात्मा, परमात्मा,आकाश, माया,अवतारवाद,सगुण ब्रह्म,काल -- भौतिकवादी विचारधारा -- जाबालि का मत तथा राम द्वारा उसका प्रतिवाद -- समन्वय ।
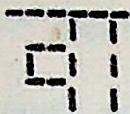
वाल्मीकीय रामायण एक महाकाव्य है जिसमें दर्शन के नाम पर व्यावहारिक दर्शन की प्रस्तुति की गई है । इस प्रसंग में आचारशास्त्र और धर्म का विवेचन अनेक श्लोकों में प्राप्त होता है । ये दोनों ही मानव रुचियों को प्रतिबद्ध करनेवाले दार्शनिक पक्ष हैं । जहाँ तक उच्चतर दार्शनिक गवेषणाओं का प्रश्न है, उनका स्पर्श सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करते हुए कहीं-कहीं ही किया गया है । लोकायतिकों के द्वारा स्वीकृत आन्वीक्षिकी को छोड़कर किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का उल्लेख रामायण में नामतः नहीं किया गया है । किसी सम्प्रदाय विशेष में प्राप्त होनेवाले विचारों को भी वाल्मीकि प्रदर्शित नहीं करते, किन्तु दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियों के निरूपण तथा अनेक शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग से यह सूचित होता है कि रामायण-काल में तत्त्वशास्त्रीय गवेषणाएँ विभिन्न धाराओं में हो रही थीं ।

किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय की भी सत्ता के प्रमाण रामायण में नहीं मिलते किन्तु विभिन्न देवताओं के प्रति भक्ति का निर्देश अनेक अवसरों पर हुआ है । रामायण के अध्ययन से यह पता लगता है कि इसमें रूढ़िवाद तथा सम्प्रदाय-वाद के पूर्वाग्रह नहीं हैं । यह सार्वजनिक और सार्वकालिक दार्शनिक चिन्तनों से परिपूर्ण है ।

भारतीय दर्शन में जिस तत्त्वमीमांसा की या पदार्थ विवेचन की चर्चा होती है उसका वाल्मीकि ने छिट-पुट वर्णन किया है । प्रायः संवादों में ये चर्चाएँ प्रकट हुई हैं । बहुत प्राचीन काल से चले आनेवाले पंचतत्त्ववाद का निरूपण युद्ध काण्ड में समुद्र के

वचन में मिलता है । सागर को मानवीकृत रूप में वाल्मीकि ने उपस्थित किया है । वह समुद्र कहता है कि पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज ये सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं, अपने सनातन मार्ग को कभी नहीं छोड़ते ।[1]

यद्यपि यहाँ आनुषंगिक रूप से पंचमहाभूतों का उल्लेख किया गया है और समुद्र अपने को जल रूप दिखाते हुए अपने स्वभाव का निरूपण करता है कि जल के स्वभाव के अनुसार वह अगाध और अपार है, साथ ही यह विचारणीय है कि केवल जल के स्वभाव का उल्लेख न करते हुए पाँचों महाभूतों की चर्चा की गयी है । संसार का निर्माण इन्हीं पाँचों भूतों से हुआ है । गौतम ने अपने न्यायशास्त्र में इन पाँच तत्वों को भूत कहा है ।[2] इससे पांचभौतिक शरीर का निर्माण होता है ।[3] उपनिषदों में पंचभूतों के स्थान पर त्रिभूत-सिद्धान्त को उपस्थित किया गया था जिसके अनुसार तेज, जल तथा अन्न (पृथ्वी) -- इन तीन तत्वों से संसार की सृष्टि हुई ।[4] बाद में वेदान्तियों ने इस त्रिभूत-सिद्धान्त को पंचीकरण का उपलक्षण माना और पाँच महाभूतों के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया ।[5]

जो कुछ भी हो, वाल्मीकि ने अपने काल में प्रचलित पंच महाभूतवाद को उपर्युक्त पंक्ति में निर्दिष्ट किया है । ये भूत संसार के उपादान तत्व हैं । सदा अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं । समुद्र ने केवल जल का स्वभाव प्रकाशित किया है कि वह अगाध

१- रामायण ६/२२/२६ ।

पृथ्वी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव ।
स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः ॥

२- न्यायसूत्र १/१/१३ ।

३- सांख्यसूत्र ३/१०/ । ४-छान्दोग्योपनिषद् ६/३-२ । ५- सदानन्द, वेदान्तसार, पृ०२०।

और अलग होता है। यदि वह गाध (पार होने योग्य) हो जाए तो यह विकृति होगी अर्थात् स्वभाव का व्यतिक्रम होगा। सांख्य-दर्शन का यह सिद्धान्त है कि मूल प्रकृति की अवस्था में प्रकृति के सारे गुण स्वाभाविक रूप में अवस्थित रहते हैं किन्तु विकृति की अवस्था होने पर वे एक दूसरे के धर्मों को धारण करने लगते हैं, गुणों का संक्षोभ हो जाता है। यद्यपि सांख्य दर्शन का कोई साक्षात् संकेत यहाँ नहीं है, किन्तु प्रकृति विकृति के रूपों का निर्देश करके वाल्मीकि ने यह दिखाया है कि सभी पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में अपने-अपने धर्मों से युक्त रहते हैं; विकृति होने पर उनका सम्मिश्रण हो जाता है जिसके फलस्वरूप एक दूसरे से नियंत्रित होकर धर्मों का भी सम्मिश्रण करने लगते हैं। सामान्यतः पदार्थ अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं, किन्तु विशेष स्थिति में उनका विकार भी होता है, ऐसी सूचना प्राप्त होती है।

अन्य प्रसंगों में वाल्मीकि ने अग्नि की शिखा को दुर्धर्ष बतलाया है।[1] इससे भी संकेत मिलता है कि संसार के प्राकृतिक पदार्थ अपने-अपने धर्म पर रहते हैं जिसका जो स्वभाव है, उसे वह नहीं छोड़ता। मर्यादा तथा स्थिति जैसे शब्दों का पुनः-पुनः उल्लेख यही सूचना देता है कि संसार में प्रकृति की, धर्म की, और नीति के विषयों की निश्चित व्यवस्था है, सबों के अपने-अपने नियम हैं। इस प्रसंग में वाल्मीकि ऋग्वेद की ऋत कल्पना से अवश्य ही प्रभावित हैं। ऋग्वेद में प्राकृतिक नियम, नैतिक नियम और धार्मिक नियम को "ऋत" कहा गया है।[2] यह ऋत सत्य से भी ऊपर है तथा भुवन संबंधी समस्त कार्य-कलापों का संचालक है। मर्यादा तथा स्थिति शब्दों के द्वारा वाल्मीकि समस्त सत्ता

1- रामायण ६/११८/१८ तथा ४/३०/१८ ।

2- प्रो० उमाशंकर शर्मा "ऋषि" - ऋग्वेद संहिता भूमिका, पृ० ७२ ।

को नियत तथा कथन में निगृहीत मानते हैं। सभी लोग इस मर्यादा के अन्तर्गत अपने-अपने कार्य कर रहे हैं।

अब प्रश्न है कि यह व्यवस्था अपने आप चल रही है या कोई इसका संचालक भी है। रामायण के पूर्व उपनिषदों के दर्शन में सृष्टि, पालन और संहार इन तीनों का नियंत्रण एक ही तत्त्व से माना गया है और वह ब्रह्म तत्त्व है।[1] रामायण में भी जगत् के नियामक की चर्चा हुई है। पाश्चात्य विद्वानों ने राम को नर-चरित्र सिद्ध करने के लिए राम के ईश्वरता प्रतिपादक हजारों श्लोकों को प्रक्षिप्त बतलाया है। किन्तु ध्यान से यदि रामायण का अनुशीलन किया जाए तो राम की ईश्वरता सर्वत्र दिखलायी पड़ती है। भारतीय दृष्टि राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के साथ-साथ परब्रह्म के रूप में मानती है। ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि वाल्मीकि राम को ब्रह्म के रूप में स्वीकार न करें। युद्धकाण्ड के ११९ वें सर्ग में दशरथ से राम की प्रशंसा करायी गयी है। दशरथ कहते हैं कि शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले श्री राम देवताओं के हृदय तथा परम गुह्य तत्त्व हैं। ये ही वेदों द्वारा प्रतिपादित अव्यक्त एवं अविनाशी ब्रह्म हैं।[2]

रामायण में दर्शन शास्त्र से सम्बद्ध अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। इनका संग्रह डा० तारापद चौधरी ने रामायण के दर्शन से सम्बद्ध अपने निबंध में किया है।[3] डा० चौधरी का उपयोग केवल निर्देश के लिए डा० शान्ति कुमार व्यास ने

१- तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१ । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।

२- रामायण ६/११९/३२ । एतत् तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसम्मितम् ।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परंतपः ॥

३- हिस्ट्री ऑफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, खण्ड १, पृष्ठ ८२-८३ ।

भी किया है । यहाँ अपेक्षित है कि उचित सन्दर्भ में उनकी व्याख्या की जाए जिससे रामायण-कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों का अनुमान हो सके ।

(१) <u>अनुपपन्न</u> -- दार्शनिक विवेचनों में जहाँ किसी वस्तु या युक्ति में असंगति होती है उसे अनुपपन्न कहा जाता है । इसी से सम्बद्ध "अनुपपत्ति" शब्द भी है जिसे असिद्धि, असफलता या अव्यावहारिकता के अर्थ में लिया जाता है ।[1] इसीलिए लक्षणा-वृत्ति की परिभाषा देते हुए दार्शनिकों ने अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है ।[2] अनुपपत्ति या अनुपपन्न शब्द का प्रयोग प्रायः विवाद के स्थलों में होता है, जहाँ वादी प्रतिवादी की युक्ति या वचन में दोष दिखाता है । रामानुज ने शंकराचार्य के द्वारा स्वीकृत माया का खण्डन करते हुए सात अनुपपत्तियाँ दिखायी हैं ।[3] वैयाकरण लोग भी निपातन का लक्षण देते हुए कहते हैं कि शास्त्र में अनुपपन्न पद जिससे उपपन्न होता है उसे निपातन कहते हैं । यास्क ने निरुक्त में भी एक विवाद-स्थल में वैदिक मंत्रों की सार्थकता के विषय में इस शब्द का प्रयोग किया है । कौत्स का यह आरोप था कि वैदिक मंत्र अनुपपन्न अर्थ वाले होते हैं जैसे ओषधे त्रायस्व ।[4] इस स्थिति में वाल्मीकि विशुद्ध शास्त्रीय विवेचन में ही इस "अनुपपन्न" शब्द का प्रयोग करते हैं --

एकस्यैवाभिधाने तु हेतुर्यः प्राकृतस्त्वया ।

तत्राप्यनुपपन्नं ते वक्ष्यामि यदसाधु च ॥[5]

१- वामन शिवराम आप्टे - संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ३८ ।

२- विश्वनाथ - न्यायपंचानन, भाषा परिच्छेद, कारिका ८२ ।

३- भारतीय दर्शन (उत्तर प्रदेश) हिन्दी संस्थान, पृ० ५८४-६ ।

४- निरुक्त १/१५ अथाप्यनुपपन्नार्थाः भवन्ति ओषधे त्रायस्व एनम् ।

५- रामायण ६/६४/११ ।

यहाँ महोदर और कुम्भकर्ण का संवाद है । महोदर कुम्भकर्ण से कहता है कि तुमने युद्ध के लिए अकेले अभियान करने का विचार रखकर जो हेतु उपस्थित किया है वह हेतु सर्वथा अनुपपन्न अर्थात् असिद्ध है । इसके बाद महोदर ने कुम्भकर्ण के दिये हुए हेतु में अनुपपत्ति दिखायी है । इससे यह सिद्ध है कि रामायण-काल में राजनीतिक तथा दार्शनिक विवाद भी होते थे, उनमें खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया चलती थी । एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बातों को अनुपपन्न सिद्ध कर सकता था ।

अनुपपन्न से ही सम्बद्ध "उपपन्न" शब्द का प्रयोग वाल्मीकि ने एक अन्य स्थल पर किया है । अयोध्या काण्ड के ११८ वें सर्ग में अनसूया और सीता का संवाद है । सीता ने जब पातिव्रत्य धर्म के पालन का प्रतिपादन अनेक युक्तियों से किया तब अनसूया प्रसन्न होकर बोली --हे मैथिली , तुम्हारी बात सर्वथा "उपपन्न"(युक्तिसंगत) तथा युक्त है । यहाँ "युक्त" भी उत्कृष्ट और निर्दोष के अर्थ में आया है । वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका के "आप्तश्रुतिः" शब्द में आये हुए "आप्त" का अर्थ युक्त किया है ।[1] इसलिए जब शास्त्रार्थ या संवाद में कोई पक्ष ग्राह्य होता था तो उपपन्न या युक्त जैसे शब्दों से उस पक्ष की अभ्यर्थना की जाती थी ।

"उपपत्ति" का प्रयोग वाल्मीकि ने सुन्दरकाण्ड में हनुमान द्वारा रावण की हवेली में सुन्दरी स्त्रियों के विषय में कल्पना के प्रसंग में किया है । हनुमान सुन्दरियों को देखकर यह उपपत्ति अर्थात् विचार करने लगे कि मतवाले भ्रमर इन सुन्दरियों के मुख को प्राप्त करने के लिए सदा तरसते होंगे । उपपत्ति का स्वरूप यह दिया गया है कि सुन्दरियों का मुख रात्रि में भी उत्फुल्ल रहता है ।[2] इसलिए यहाँ कोई कल्पना की

१- सांख्यकारिका ,५पर वाचस्पतिमिश्र की तत्त्वकौमुदी(निर्णयसागर प्रेस, पृ०१५२)। आप्ता - प्राप्ता -युक्तेति यावत् । २- रामायण ५/९/३९ ।

जाती है और उसी वस्तु की सिद्धि के लिए तर्क किये जाते हैं उसे ही उपपत्ति कहते हैं। यह वाल्मीकि कालीन आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क विद्या की प्रक्रिया थी ।

(२) न्याय -- न्याय शब्द का उपयोग शास्त्र विशेष के अतिरिक्त प्रणाली तथा समानता के अर्थ में भी होता है । वात्स्यायन ने कहा है कि प्रमाणों के द्वारा किसी अर्थ की परीक्षा करना "न्याय" है ।[1] वाल्मीकि ने न्याय का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में किया है । अरण्यकाण्ड में जटायु रावण को कहता है कि विदेह नंदिनी सीता का बलपूर्वक अपहरण तुम उसी प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार कोई नास्तिक न्यायसंगत हेतुओं से निश्चित की गयी वैदिक श्रुति को अपनी युक्तियों के बल पर पलट नहीं सकता ।[2] यहाँ वेद के प्रति आस्था प्रकट की गयी है । वह केवल शब्द प्रमाण से ही सिद्ध नहीं है अपितु न्यायसंगत हेतुओं से भी प्रमाणित है ।

ये सभी पारिभाषिक शब्द तर्क प्रणाली की व्यवस्थित स्थिति की सूचना देते हैं । रामायण के समय में कोई बात केवल प्रतिज्ञा मात्र से प्रमाणित नहीं की जाती थी क्योंकि केवल कह देने से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती ।[3] रामायण के बालकाण्ड में यज्ञ के प्रसंग में ब्राह्मणों के द्वारा वाद-विवाद का कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है ।[4] इन वादों में हेतुओं को भी उपस्थित किया जाता था । इसलिए ऐसे वादों को हेतुवाद या युक्तिवाद भी कहते थे ।

१- न्यायसूत्र १/१/१ प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः ।

२- रामायण ३/५०/२२ ।

३- तुलनीय सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३३ - एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत् ।

४- रामायण १/१४/१९ तथा २१ ।

यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि ने उपनिषदों की वाद-परम्परा को निकट से देखा होगा। किस प्रकार एक वादी दूसरे वादी को पराजित करने की चेष्टा करता था, यह दृश्य वाल्मीकि से दूर नहीं था। इसलिए भले ही किसी वाद का दृश्य निरूपित करने का अवकाश आदि कवि को नहीं मिला, किन्तु अनेक संवादों में उन्होंने न्यायशास्त्र के उपादानों का कलात्मक प्रयोग किया है। कहीं-कहीं राजनीतिक विवादों में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की व्यवस्था बिल्कुल न्यायशास्त्र की विधि से की गई है।

तत्वशास्त्रीय शब्द

उपर्युक्त विवेचन में हमने तर्क या वाद से सम्बद्ध कतिपय पारिभाषिक शब्दों का अनुशीलन किया। अब वाल्मीकीय रामायण में प्रयुक्त उन पारिभाषिक शब्दों का अनुशीलन अपेक्षित है जिनका तत्वमीमांसा की दृष्टि से महत्व है।

(१) अव्यक्त -- बालकाण्ड के सत्तरवें सर्ग में वसिष्ठ ऋषि मिथिला में राजा दशरथ की कुल परम्परा का परिचय देते हुए "अव्यक्त" से ही सृष्टि क्रम का निरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि अव्यक्त से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, वह ब्रह्मा शाश्वत, नित्य और अव्यय है।[1] यहाँ वाल्मीकि "अव्यक्त" से व्यक्त की उत्पत्ति बतलाते हैं। यह सांख्य की दार्शनिक परम्परा का सूचक है। सांख्य दार्शनिक प्रकृति के अव्यक्त रूप से सभी व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति मानते हैं। अव्यक्तावस्था में सत्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण समान रहते हैं। व्यक्तावस्था में इन गुणों का क्षोभ होकर वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। कहना कठिन है कि परवर्ती युग के सांख्य-दर्शन के तत्व विचार को वाल्मीकि जानते थे।

१- रामायण १/७०/१९ - अव्यक्त प्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः।

किन्तु उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादन कठोपनिषद् में भी हुआ है । वहाँ कहा गया है कि मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्त तत्त्व) है, महान् आत्मा से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है किन्तु पुरुष से परे कोई नहीं ।[1]

(२) त्रिगुणवाद -- सांख्य-दर्शन के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त दोनों स्थितियों में प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है । वाल्मीकि ने सांख्य दर्शन के तीन गुणों का नामतः उल्लेख किया है । उत्तरकाण्ड में राम लक्ष्मण से कहते हैं कि राजा ययाति ने सत्त्व गुण के अनुकूल मार्ग का आश्रय लेकर असह्य रोष को भी सह लिया था ।[2] इस विषय में राम पूरी कथा सुनाते हैं । सत्त्व गुण के अनुकूल मार्ग की कल्पना वही है जो गीता में उपस्थित की गयी है । अर्थात् प्रकाशात्मक, निर्मल एवं आमय-रहित सत्त्व गुण सुख के साथ लोगों को बाँधता है और उससे ज्ञान में प्रवृत्ति होती है ।[3] सत्त्वगुण में स्थित पुरुष की ऊर्ध्व गति होती है । गीता में सात्विक तप की भी कल्पना की गयी है, जो तीन प्रकार का है --शारीरिक, वाचिक और मानसिक । देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और ज्ञानी

१- कठोपनिषद् १/३/१०-११ ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित सा काष्ठा सा परा गतिः ।

२- रामायण ७/५८/६ ।

सौमित्रे दुःसहो रोषो यथा क्षान्तो ययातिना ।
सत्त्वानुगं पुरस्कृत्य तन्निबोध समाहितः ।

३- गीता १४/६ ।

जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा -- ये शारीरिक तप हैं । इसी प्रकार उद्वेग न लेने वाला, प्रिय, हितकारी एवं सत्यभाषण के साथ-साथ वेदशास्त्रों का अभ्यास और परमेश्वर का नाम जप वाचिक तप है । मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन धारण,आत्मसंयम तथा अन्तःकरण की शुद्धता को मानस तप कहते हैं । ये तीनों तप निष्काम रूप से श्रद्धापूर्वक किये जायें तो ये सात्विक होते हैं । इस सात्विक वृत्ति को वाल्मीकि के युग में लोग इतनी सरलता से समझ जाते थे कि अलग से इनकी व्याख्या की आवश्यकता आदि कवि को नहीं प्रतीत हुई ।

सत्वगुण सभी उत्तमोत्तम विशिष्टताओं का बोधक माना जाता था । इसलिए दार्शनिक दृष्टि से इन विशिष्टताओं को प्रकाशित करनेवाले अन्तःकरण (मन तथा बुद्धि) के लिए भी प्रयुक्त होता था । योग-दर्शन में "चित्त" की व्याख्या इसीलिए शुद्ध सात्विक परिणाम के रूप में की गयी है ।[1] वाल्मीकि ने भी "सत्व" का प्रयोग यत्र-तत्र अन्तःकरण के अर्थ में किया है जैसे अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि सीता के वचन को सुनकर शुद्ध अन्तःकरणवाली (शुद्ध सत्वा) देवी कौसल्या के नेत्रों से सहसा दुःख और हर्ष के आँसू बहने लगे ।[2] यह सत्व क्रमशः शक्ति या धैर्य गुण के अर्थ में भी आया है । किसी में सत्व होने का अर्थ है कि उसमें सहिष्णुता है, धीरता है । इसलिए राम लक्ष्मण में विक्रम सत्व और दुर्धर्ष तेज की स्थिति बतलाते हैं ।[3] इस प्रकार वाल्मीकि सत्व गुण को एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त करके भी इसके लौकिक अर्थों से भी अपना परिचय दिखाते हैं ।

जहाँ तक रजोगुण का सम्बन्ध है यह प्रकृति का वह गुण है जिसमें उत्तेजकता,

---

१- योग सूत्र १/२, भोजवृत्ति । २- रामायण २/१९/१२ । ३- वही २/२१/१९ ।

चंचलता तथा क्रियाशीलता है । सुन्दरकाण्ड में लंकादहन करते हुए हनुमान अपने ऊपर रजोगुण से ग्रस्त होने का दोषारोपण करते हैं । वे कहते हैं कि मैंने क्रोध के दोष से वानरोचित चपलता का प्रदर्शन किया है । तीनों लोक जानते हैं कि वानर चंचल होते हैं । चंचलतावश मैंने पूरी लंका जला दी और सीता की रक्षा नहीं की । वे स्पष्ट कहते हैं कि राजस भाव (रजोगुण जन्य चंचलता) कार्य साधन में असमर्थ और अव्यवस्थित होता है । इस रजोगुण मूलक क्रोध के कारण समर्थ होते हुए भी मैंने सीता की रक्षा नहीं की ।[1] वाल्मीकि ने वानरों की चंचलता तथा रजोगुण का उचित समन्वय किया है । क्रोध रजोगुण का परिणाम है । इससे ग्रस्त होने पर कौन पुरुष पाप नहीं करता ? इसके वश में आने पर मनुष्य गुरुजन की भी हत्या कर सकता है, क्रोधी मानव साधु पुरुषों पर आक्षेप करता है । क्रोधी न तो वाच्य और अवाच्य में अन्तर करता है और न कार्य और अकार्य में ।[2] क्रोध का शमन क्षमा से होता है । यहाँ यह संकेत भी मिलता है कि रजोगुण को सत्व गुण नियंत्रित करता है ।

तमोगुण भारीपन लाता है, अज्ञान फैलाता है, क्रियाशीलता में बाधक होता है एवं ज्ञान को आच्छन्न कर देता है । राम अयोध्या काण्ड में जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मैं पिता के सत्य की मर्यादा भंग नहीं कर सकता । लोभ, मोह और अज्ञान से तामस बुद्धिवाला बनकर मैं सत्य के बाँध को तोड़ नहीं सकता ।[3]

१- रामायण ५/५५/१६ । धिगस्तु राजसं भावमनीशमनवस्थितम् ।
ईश्वरेणापि यद् रागान्मया सीता न रक्षिता ॥

२- वही ५/५५/४-५ ।

३- वही २/१०९/१७ । नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥

तमो गुण व्यक्ति को विवेकशून्य कर देता है जिससे उसमें कर्तव्य की चेतना नहीं रहती। वह विपरीत कर्म करता है।

इस प्रकार प्रकृति के तीन गुणों की व्यावहारिक व्याख्या रामायण में मिलती है। यह व्याख्या वैसी ही है जैसे भगवद्‌गीता में दी गयी है। सांख्य दार्शनिकों के समान इन गुणों का वाल्मीकि ने तत्त्व शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है, उनके कार्यों का निरूपण किया है। तत्वशास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि जब किसी गुण विशेष का आधिक्य होता है तब उसके कार्य रामायण में निर्दिष्ट नियम या व्यवस्था के अनुसार पाये जाते हैं।

वाल्मीकि "निसर्ग" की शक्ति में विश्वास करते हैं। विभिन्न जातियों की नैसर्गिक शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। पतंजलि ने योग-दर्शन में विभिन्न जातियों की निसर्ग शक्ति का प्रतिपादन किया है। पक्षियों का आकाश में उड़ना, अथवा कपिलादि महर्षियों का जन्म के बाद ही ज्ञानादि से सम्पन्न होना जन्मजात सिद्धि है। ये उनके सांसिद्धिक गुण हैं।[1] ऐसी स्थिति में सम्पाति से वाल्मीकि कहलवाते हैं कि मैं यहीं से रावण और जानकी को देखता हूँ, भोजन जन्य बल से तथा स्वाभाविक शक्ति से हम गीध जाति के पक्षी सौ योजन तथा उससे भी आगे तक देख सकते हैं।[2] वाल्मीकि ने निसर्ग का प्रयोग जातिगत स्वभाव के अर्थ में किया है जो प्रकृति के द्वारा प्रदत्त कार्य-कारण भाव है। अमुक प्राणी की अमुक शक्ति तथा अमुक विशेषता इस निसर्ग का ही स्वरूप है। इसी अर्थ में "मर्यादा" और "नियति" का भी प्रयोग किया गया है। "मर्यादा" निश्चित नियम को कहते हैं। यह

१- पतंजलि योगसूत्र ४/१ भोजवृत्ति।
२- रामायण ४/५८/३२। तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः।
आयोजनशतात् साग्रात् वयं पश्याम नित्यशः॥

मर्यादा शास्त्रकारों द्वारा निर्धारित होती है । निसर्ग और नियति तो स्वभावसिद्ध धर्म हैं किन्तु मर्यादा कल्याण की कामना से स्थापित किये गये नियमों को कहते हैं । इसमें शास्त्र के विधान प्रमाण होते हैं । कैकेयी को समझाने के समय सुमंत्र इसी प्रकार कहते हैं कि तुम मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो । इस प्रकार मर्यादा में औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न खड़ा होता है, जबकि निसर्ग और नियति इन विचारों से परे है ।

(२) भव -- "सत्ता" के अर्थ में वाल्मीकि ने "भाव" शब्द का प्रयोग किया है ।[1] किन्तु इसी अर्थ में "भूत" शब्द भी आया है । वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि ने सत्ता की उच्चतर दार्शनिक अवस्था का प्रतिपादन न करके उसे व्यावहारिक या सांसारिक अर्थ में रखा है । इसलिए जिन पदार्थों को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है वे "भव" और "भूत" के द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं । इसीलिए कहा गया है कि वृद्धावस्था, मृत्यु, काल और दैव इन चारों का प्रहार सभी भूतों पर होता रहता है ।[2] इससे ज्ञात होता है कि भूत और भाव जैसे शब्दों का प्रयोग वाल्मीकि नित्य, शाश्वत पदार्थ का बोध कराने के लिए नहीं अपितु साधारण दृश्यमान पदार्थों के अर्थ में ही करते हैं । यह उनकी लौकिक दृष्टि है, दार्शनिक दृष्टि नहीं । "भूत" का प्रयोग नैयायिक लोग बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण धारण करनेवाले पदार्थ के रूप में करते हैं ।[3] सम्भवतः वाल्मीकि की भूत विषयक कल्पना भी यही है । भव का प्रयोग तो दार्शनिकों ने नित्य रूप सत्ता के अर्थ में किया है । वैशेषिक दर्शन में क्वचित कई स्थलों पर सत्ता को भव कहते हैं ।[4] किन्तु वाल्मीकि ने भव और भूत को समान अर्थों में प्रयुक्त किया है ।

१- रामायण २/८४/१८ । २- वही ३।६४।७६, ३।६५।५

३- न्यायकोश, पृ० ६२८ । ४- वैशेषिक सूत्र ०/२/२० ।

रामायण के युद्धकाण्ड में राक्षसों पर शस्त्रों का प्रहार करते हुए राम का वर्णन वाल्मीकि ने एक विशिष्ट दार्शनिक उपमान के द्वारा किया है । राक्षसगण अपनी सेना को श्री राम के द्वारा छिन्न-भिन्न, नष्ट और पीड़ित होती हुई देख रहे थे, किन्तु शीघ्रता-पूर्वक युद्ध करनेवाले पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती थी । यहाँ राम को जीवात्मा या भूतात्मा कहा गया है । वाल्मीकि कहते हैं --

प्रहरन्तं शरीरेषु न ते पश्यन्ति राघवम् ।

इन्द्रियार्थेषु तिष्ठन्तं भूतात्मानमिव प्रजाः ॥[1]

अर्थात् अपने शरीरों पर प्रहार करते हुए वे राक्षसगण रघुवंशी राम को उसी प्रकार नहीं देख पाते थे जैसे ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि विषयों के भोक्ता के रूप में अवस्थित जीवात्मा को सामान्य जन नहीं देख पाते हैं । यहाँ इन्द्रियार्थों में अवस्थित भूतात्मा का अर्थ टीका-कारों ने शब्दादि विषयों के भोक्ता आत्मा के रूप में किया है । "इन्द्रियार्थ" न्यायशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, जो भोग के साधन रूप इन्द्रियों के द्वारा भोग्य पदार्थों को कहा जाता है ,जैसे रूप, रस, स्पर्श, गंध, शब्द ।[2] दार्शनिकों का विचार है कि भूतात्मा इन शब्दादि विषयों में (भोक्ता के रूप) में अवस्थित है । इन्द्रियार्थों का तो अनुभव होता है, किन्तु भूतात्मा का गूढ़ होने के कारण सामान्य अनुभव नहीं हो पाता ।

सुन्दरकाण्ड में वाल्मीकि ने हनुमान द्वारा पाँच इन्द्रियार्थों से पाँच इन्द्रियों को तृप्त किये जाने का उल्लेख किया है । रावण की क्रीड़ाशाला(भवन) शोक का नाश करने-वाली सम्पत्ति की जननी थी । उस शाला ने माता के समान शब्द स्पर्शादि पाँच विषयों से

१- रामायण ६/८३/२१ ।

२- न्यायसूत्र १/१/१४ ।

हनुमान जी को श्रोत्रादि पंच इन्द्रियों को तृप्त कर दिया था।[1] यहाँ माता के रसप्रिय होने तथा रस की तृप्ति करने का संकेत तो हुआ ही है, इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों का निरूपण भी किया गया है। वाल्मीकि ने भूतात्मा को इन्द्रियार्थों के भोक्ता के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने आत्मा को नैयायिकों के समान जीवात्मा और परमात्मा दो रूपों में देखा है। जीवात्मा के लिए वे भूतात्मा शब्द का प्रयोग करते हैं। यह इन्द्रियों और उनके अर्थों से सम्बन्ध रखनेवाला चेतन तत्व है। इसके प्रमाण स्वरूप युद्धकाण्ड का निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया जा सकता है जिसमें हनुमान ने रावण से कहा है --

एष मे दक्षिणो बाहुः पंचशाखः समुद्यतः ।
विधमिष्यति ते देहे भूतात्मानं चिरोषितम् ॥[2]

हे रावण! पंच अंगुलियों से युक्त यह मेरा दाहिना हाथ उठ चुका है, तुम्हारे शरीर में चिरकाल से बसे हुए भूतात्मा को अब यह पृथक् कर देगा। इस प्रकार स्पष्टतः वाल्मीकि शरीर में निवास करनेवाले, सुख-दुःख के भोक्ता व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा की कल्पना करते हैं। इस जीवात्मा को वे "लिंगी" अर्थात् लिंग शरीरधारी भी कहते हैं।[3]

१- रामायण ५/९/२९-३०।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैस्तु पंचपंचभिरुत्तमैः ।
तर्पयामास मातेव तदा रावणपालिता ।

२- रामायण ६/५९/५६ ।

३- वही ५/१३/४२ । ऊर्ध्वं कष्टस्य वा सम्यग् लिंगिनं साधयिष्यतः ।
शरीरं भक्षयिष्यन्ति वायसाः श्वापदानि च ॥

भारतीय दर्शन में लिंग शरीर तथा सूक्ष्म शरीर को समानार्थक बताया गया है। सामान्यतः सूक्ष्म भूतों के साथ साथ इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को मिलाकर लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर कहते हैं। वेदान्तियों ने अपंचीकृत सूक्ष्मभूत के कार्य को सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर कहा है। लिंग शरीरधारी जीवात्मा का शरीर से वियोग होना निश्चित है।

आत्मा का दूसरा रूप परमात्मा को भी वाल्मीकि मानते हैं। इसे कहीं-कहीं आत्मा शब्द के द्वारा और कहीं-कहीं परमात्मा शब्द के द्वारा भी प्रकट किया गया है।[1] यह आत्मा या परमात्मा समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान है और सबों के शुभ अशुभ को देखता है। रामायण के उत्तरकाण्ड में राम को ही परमात्मा का रूप दे दिया गया है। वे पुष्पक विमान से कहते हैं --

स त्वं रामेण लंकायां निर्जितः परमात्मना ।[2]

अर्थात् परमात्मा राम ने लंका में रावण के साथ-साथ तुम्हें भी जीत लिया है।

इस प्रकार वाल्मीकि ने व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा को जीवात्मा तथा परमात्मा के रूप में देखा है। उपनिषदों के समान आदिकवि भी सभी प्राणियों के हृदय में निवास करनेवाले परमात्मा को कहीं-कहीं केवल आत्मा भी कहते हैं, किन्तु एक पुरुष में स्थित विशिष्ट आत्मा को "भूतात्मा" ही कहते हैं, उसे केवल आत्मा नहीं कहते। यद्यपि आदिकवि ने "ब्रह्म" शब्द से निष्पन्न अनेक शब्दों का विभिन्न अर्थों में कई स्थलों पर प्रयोग किया

१- रामायण ४/१८/१५ — हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्
६/१११/११ — अव्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ।

२- रामायण ७/४१/७ ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

है, किन्तु कम-से-कम एक स्थान पर "ब्रह्म" का औपनिषदिक अर्थ में उन्होंने प्रयोग किया है। गन्धर्व कन्या बालकाण्ड में चूली नामक महर्षि से कहती है कि आप ब्रह्म तेज से सम्पन्न होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं।[1]

इस ब्रह्म के तथाकथित तटस्थ लक्षण अर्थात् स्रष्टा, पालक, संहारक होने का निर्देश रामायण में कई स्थानों पर किया गया है जैसा कि उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में कहा गया है।[2]

ब्रह्म के अर्थ में ही रामायण में उपनिषदों के समान "आकाश" शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अयोध्याकाण्ड में आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्माजी की उत्पत्ति बतलायी गयी है (आकाश प्रभवो ब्रह्मा)।[3] उत्तरकाण्ड में भी आकाश रूप ब्रह्म का निर्देश है।[4] ब्रह्म सूत्र में बादरायण ने भी आकाशाधिकरण में "आकाश" का अर्थ परमब्रह्म ही किया है भूताकाश नहीं।[5] छान्दोग्योपनिषद् (१/९/१) में स्पष्ट रूप से आकाश को सभी पदार्थों का जन्मदाता कहा गया है।[6] इस प्रकार वाल्मीकि उपनिषद् की इस परम्परा का समर्थन करते हैं कि आकाश अपनी व्यापकता के कारण परब्रह्म का वाचक हो सकता है। इसका भूतरूप अर्थ तो तुच्छ है।

१- रामायण १/३३/१६ (ब्रह्मभूतो महातपाः)।

२- तैत्तिरीयोपनिषद् (३/१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

तुलनीय रामायण ६/११०/१३-२६।

३- रामायण २/११०/५।

४- रामायण ७/११०/१०।

५- ब्रह्मसूत्र १/१/२२ आकाशस्तल्लिंगात्।

६- छान्दोग्योपनिषद् १/९/१ सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

परमात्मा की अव्याहत शक्ति इस जगत् के जन्म, पालन और लय का कारण है। इस शक्ति को माया कहा गया है। इस माया का प्रथम उल्लेख बालकाण्ड में हुआ है, जहाँ अग्नि देव का यज्ञ से निर्गमन बतलाया गया है। अग्निदेव अपनी दोनों भुजाओं पर एक विशाल थाल उठाये हुए थे, वह थाल मायामय प्रतीत होती थी।[1] यह माया प्रस्तुत स्थल में दृश्यमान पदार्थ के रूप में प्रकाशित हुई है। दार्शनिकों ने मूल वस्तु और उसके प्रतीयमान रूप में सदा अन्तर माना है। मूल वस्तु को परम तत्त्व और माया को प्रतीति कहा गया है। जब किसी वस्तु को मायामय कहा जाता है तब इसका अर्थ यह होता है कि किसी अज्ञात शक्ति ने उसे ऐसा रूप दिया है कि जिससे वह आकर्षक प्रतीत होती है और उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद संहिता में "माया" का प्रयोग एक अनिर्वचनीय शक्ति के अर्थ में किया गया है, जो अपने अच्छे अर्थ में देवताओं के साथ जुड़ी है और निकृष्ट अर्थ में राक्षसों में भी यह पायी जाती है। कई स्थानों पर यह भ्रान्ति या प्रतीति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुई है।[2] इस अर्थ में ही माया का प्रयोग वेदान्त-दर्शन में किया गया है। रामायण आदि परवर्ती साहित्य भी माया के इस दार्शनिक अर्थ का उपयोग करते हैं। इस प्रकार किसी को मायामय कहने का उद्देश्य उसकी बाहरी चमक-दमक का निरूपण करना है जिससे लोग अभिभूत हो जाएँ। वेदान्त भी माया का प्रयोग इसी अर्थ में करता है। जिससे अज्ञानवश लोग अभिभूत रहते हैं।

बालकाण्ड में ही विश्वामित्र राम से प्रार्थना करते हैं कि आप देवताओं के हित के लिए अपने मायायोग का आश्रय लेकर वामन रूप धारण करें और यज्ञ में हमारा कल्याण

१- रामायण १/१६/१५।

२- ऋग्वेद संहिता १०/५४/२।

साधन करें ।[1] यहाँ वाल्मीकि विष्णु के द्वारा मायायोग का आश्रय लेकर विविध रूपों को धारण करने की बात कह रहे हैं । मायायोग अथवा योगमाया का आश्रय लेकर ही निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करता है । भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तियों ने माया को विचित्र पदार्थों की सृष्टि करनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा है और इस विषय में उपनिषदों के उद्धरण भी दिये हैं, जैसे --"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" ।[2] विष्णु पुराण में विविध वस्तुओं की सृष्टि में समर्थ असुर की शक्ति विशेष को माया कहा गया है । जिसका विनाश विष्णु के चक्र ने खण्ड-खण्ड करके किया ।[3]

इस प्रकार यह माया न केवल कल्याणकारी विष्णु की शक्ति के रूप में होती है, अपितु दुष्ट दैत्य की शक्ति भी माया कही जाती है । वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में पुनः इसे विष्णु के महान् तेज के रूप में उपस्थित किया गया है । लंकापुरी को सहसा जलती हुई देखकर वहाँ के राक्षस हाहाकार करने लगे और कहने लगे कि क्या भगवान विष्णु का महान् तेज जो अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय है, वही माया से वानर का शरीर धारण करके राक्षसों के विनाश के लिए क्या इस समय आया है -

----

१- रामायण १/२९/८ ।

स त्वं सुहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।

वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥

२- श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१० ।

३- विष्णु पुराण १/१९/२० ।

तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।

बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम् ॥

किं वैष्णवं वा कपिरुपमेत्य

रक्षो विनाशाय परं सुतेजः ।

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमेकं

स्वमायया साम्प्रतमागतं वा ॥[1]

उत्तरकाण्ड में जब काल राम को ब्रह्मा का सन्देश सुनाता है तब कहता है कि मैं पूर्वकाल में (अर्थात् हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के समय)[2] माया द्वारा आपसे उत्पन्न हुआ था इसलिए आपका पुत्र हूँ, मुझे सर्वसंहारकारी काल कहते हैं --

तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः परपुरंजयः ।

मायासम्भावितो वीकालः सर्वसमाहरः ।[3]

काल पुनः कहता है कि पूर्वकाल में समस्त लोकों को माया के द्वारा स्वयं अपने में लीन करके आपने महासमुद्र के जल में शयन किया था तथा उसके बाद आपने ही माया के द्वारा अनेक सत्वों को जन्म दिया था ।[4] इसी काण्ड में सीता को विष्णु की पुरातन पत्नी "योगमाया" कहा गया है । वह योगमाया ही राम को यथार्थ रूप से जानती है कि वे अचिन्त्य, अविनाशी तथा जरा आदि अवस्थाओं से रहित परब्रह्म हैं ।[5]

१- रामायण ५/५४/३० ।

२- ऋग्वेद संहिता १०/१२१/१ । हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ।

३- रामायण ७/१०४/२ ।

४- वही ७/१०४/४-५ ।

५- वही ७/११०/११ ।

इन प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि ने माया का एक ओर अद्भुत शक्ति के रूप में अर्थ लिया था, जो किसी भी बलशाली के पास रह सकती है, तो दूसरी ओर उन्होंने परब्रह्म की अद्भुत, अनिर्वचनीय शक्ति का भी इस शब्द से अभिधान किया है। यह शक्ति ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और विनाश कर सकती है। यह दार्शनिक दृष्टि भले ही विभिन्न शास्त्रों में प्रकट हुई है, किन्तु वाल्मीकि इसे एक कवि के रूप में, प्रत्युत एक व्यावहारिक मनुष्य के रूप में रखते हैं। किसी भी भारतीय से पूछा जाय कि यह जगत् क्या है? तो वह इसे परमात्मा की माया ही बतलायेगा। संसार के सभी नाम रूपात्मक पदार्थ विष्णु की माया के रूप में है और माया के बिना जगत् की रचना नहीं हो सकती। यह आध्यात्मिक दृष्टि वाल्मीकि ने अपने काव्य में कई स्थानों पर प्रकट की है, किन्तु इसे प्रकट करने का ढंग विशुद्ध व्यावहारिक है। इसी से इसमें रोचकता और सरसता भरी हुई है, इसमें कहीं भी तत्वमीमांसा की शुष्कता नहीं है।

वाल्मीकि ने राम को परब्रह्म के रूप में अन्तिम काण्ड में तथा प्रथम काण्ड में भी सूचित किया है। केवल बीच के काण्डों में कुछ प्रकरणों को छोड़कर उन्होंने राम को एक सामान्य जीवन में दृश्यमान महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। इस आधार पर भारतीय परम्परा और भावना को न समझनेवाले लोगों ने राम को परब्रह्म मानने की कल्पना ~~की कल्पना~~ से सम्बद्ध समस्त अंश को प्रक्षिप्त बतलाया है कि जब अवतारवाद का प्रादुर्भाव हुआ तब वाल्मीकीय रामायण के मूल भाग में उपर्युक्त अंश जोड़ दिये गये। दूसरी ओर कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं और रामायण के सम्पूर्ण रूप को वाल्मीकि की रचना स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में बहुत से तर्क तथा प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु यहाँ दार्शनिक युक्ति का निरूपण अनिवार्य प्रतीत होता है।

रामायण की रचना एक निश्चित दार्शनिक योजना का प्रतिफलन है जिसका संकेत हमें गीता के एक श्लोक में मिलता है कि प्राणियों का शरीर आरम्भ में भी अव्यक्त रहता है, और अन्त में भी अव्यक्त ही रहता है, केवल मध्य भाग की ही प्रतीति होती है। उसके विषय में हम चाहें जो कुछ कह लें।[1] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिन लोगों ने राम के महापुरुष रूप वाले अंश को मूल रामायण कहा है, वे व्यक्त दृष्टिवाले हैं, अव्यक्त का बोध उन्हें नहीं है। वाल्मीकि ने तो परमात्मा के अव्यक्त रूप से अव्यक्त रूप तक की यात्रा अपने काव्य को करायी है। परमात्मा को सगुण रूप में विष्णु (सर्वव्यापक) कहकर उन्हें व्यक्त रूप धारण करने के लिए प्रवृत्त करना तथा अपनी व्यक्त लीला का विशद प्रदर्शन करके पुनः अव्यक्त में लीन हो जाना -- इस दार्शनिक योजना को समझकर ही रामायण के विषय में कुछ कहा जा सकता है।

भारतीय दार्शनिक सदा से यह विश्वास करता रहा है कि हम केवल व्यक्त की लीला देख रहे हैं, उसके आदि रूप और अन्त रूप को हम देख नहीं सकते। वह तो अज्ञेय है, अचिन्त्य है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के तत्त्वावधान में प्रकाशित दर्शन शास्त्र के इतिहास की भूमिका में तात्कालिक शिक्षामंत्री ने एक फारसी कवि की कविता उद्धृत की है जिसमें इस संसार की तुलना एक ऐसी पुरानी पाण्डुलिपि से की गयी है, जिसके प्रथम और अन्तिम पृष्ठ सदा के लिए लुप्त हो चुके हैं। यह कहना अब बिल्कुल सम्भव

१- गीता २/२८।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

नहीं है कि पुस्तक का आरम्भ कैसे हुआ था और उसका अन्त क्या हुआ था ?[1] इस प्रकार संसार के सभी दार्शनिक यह सोचते रहे हैं कि आरम्भ और अन्त अज्ञातव्य है । सारा दर्शनशास्त्र इन लुप्त पृष्ठों के अनुसंधान तथा विवेचन में ही लगा हुआ है । भारतीय दार्शनिकों ने इस अज्ञातव्य को अपने प्रातिभ नेत्रों से देखा और यह अनुभव किया कि अलौकिक कार्य करनेवाले सभी व्यक्ति परमात्मा के रूप हैं । राम को भी इसी रूप में ब्रह्म का अवतार कहा गया । इसी दृष्टि से कृष्ण भी अवतार माने गये ।

उच्च स्थान से निम्न स्थान पर उतरना ही अवतार है । भगवान का वैकुण्ठ धाम से भूलोक पर लीला आदि के निमित्त अवतार होता है । भगवान् के अवतार का उद्देश्य गीता में स्पष्ट किया गया है कि साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में उनका अवतरण होता है ।[2] सृष्टि के शाश्वत धर्म हैं -- उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय । इन तीन धर्मों के प्रतिनिधि देवता रामायण की रचना के पूर्व ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में स्वीकृत हो चुके थे । लौकिक संस्कृत-साहित्य में सृष्टि या पालक के प्रतीक होने से विष्णु ही बहुत लोकप्रिय हुए । अतः इन्हीं के अवतारों की अधिक कल्पना की गयी है ।

कुछ लोगों की मान्यता है कि बुद्ध की गणना जब देवताओं में होने लगी

१- हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, जार्ज एलन (लन्दन), पृष्ठ ११ (भाग १)।

२- गीता ४/८ ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे- युगे ॥

तब से ही अवतारवाद का प्रचलन हुआ।[1] किन्तु यह मान्यता भ्रममूलक है। वस्तुस्थिति यह है कि अवतारों के बीज वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में मत्स्यावतार (२/८/१/१) तथा कूर्मावतार (७/१/३/५) के संकेत मिलते हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता (७/१/५/१) में वामनावतार का उल्लेख है। ऋग्वेद(१/१५४/२) में भी विष्णु के तीन पदक्रमों से सृष्टि नापे जाने की कथा है। छान्दोग्योपनिषद् (३/१०) में देवकी पुत्र कृष्ण तथा तैत्तिरीयारण्यक(१८/१/६) में वासुदेव कृष्ण का उल्लेख है।

अवतार के सम्बन्ध में यह बात अवश्य विचारणीय है कि वैदिक ग्रन्थों में जहाँ ब्रह्मा का अवतार बतलाया गया है, वहाँ पुराणों में विष्णु के अवतार माने गये हैं।

वाल्मीकीय-रामायण में दोनों प्रकार की बातें मिलती हैं। बालकाण्ड के पन्द्रहवें और सोलहवें सर्गों में नारायण विष्णु के द्वारा राम के रूप में अवतार ग्रहण करने की चर्चा है। किन्तु वाल्मीकि यह नहीं भूलते कि राम ब्रह्म हैं, माया के कारण वे नारायण व विष्णु कहलाते हैं। वही नारायण राम रूप में अवतरित हुए हैं। जिस समय काल उत्तरकाण्ड में राम को अपना पुत्र बतलाता है तब उसका भाव यही है कि जो प्रथम तत्त्व के रूप में राम पूर्वकाल में उद्भूत हुए थे तो वे ब्रह्म के ही रूप थे।[2] विष्णु का बार-बार उल्लेख जगत् के पालक होने के कारण है। उन्हें लोकपति कहा गया है। लोकों की रक्षा के लिए भगवान् नारायण ने जो प्रतिज्ञा की थी वह उत्तरकाण्ड में पूरी हो चुकी है। इसलिए जगत् के पितामह ब्रह्मा ने यह सन्देश भेजा है कि अब आप परमधाम

१- हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ७५।

२- रामायण ७/१०४/२।

में आ जाएँ । ब्रह्मा को पितामह और विष्णु को जगत् पिता कहने का अभिप्राय इस दार्शनिक चिन्तन में ही निहित है कि परमतत्त्व ब्रह्म ही है जो ब्रह्मा के रूप में प्रतिष्ठित है । उस ब्रह्म से जगत् पिता विष्णु की उत्पत्ति हुई है और विष्णु विभिन्न अवतारों में आये हैं ।

वाल्मीकीय-रामायण में आदिकवि ने तत्त्व-विचार की दृष्टि से यही तथ्य प्रकाशित किया है कि सगुण ब्रह्म नारायण के रूप में प्रकट होकर साधुओं की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिए राम का अर्थात् मानव का रूप धारण करता है और उस रूप में समस्त लीलाओं को दिखाता है, जो एक मानव के लिए सर्वथा समुचित हो सकती हैं। इन समस्त लीलाओं का संवरण भी आवश्यक है तथा समस्त लोकों को अपने आप में संक्षिप्त करके, स्वयं में समाविष्ट करके महासागर में भगवान् शयन करते हैं ।[1] यह क्रम बार-बार दुहराया जाता है इसलिए सृष्टि, स्थिति और विनाश का चक्र चलता ही रहता है । एक दूसरी कल्पना यह है कि विष्णु परमधाम में रहते हैं, देवताओं की प्रार्थना पर मानव रूप में अवतीर्ण होते हैं । परमधाम में निवास करनेवाले विष्णु का संकल्प ही उन्हें मानव रूप में ले आता है, जिस अवतार में उनकी जितनी आयु निश्चित होती है, उसे पूरा करके वे पुनः अपने पूर्व रूप में चले जाते हैं ।[2]

इस सम्बन्ध में वाल्मीकि ने काल की अपरिमित शक्ति का निर्देश किया है । काल सबों का संहार करता है । इससे कोई बच नहीं सकता । वाल्मीकि कहते हैं "कालः सर्वसमाहारः" । कोई कितना भी शक्तिशाली हो, काल की गति उसे छोड़ नहीं सकती । काल

१- रामायण ७/१०४/४ ।

२- वही ७/१०४/१२ । स त्वं मनोमयः पुत्रः पूर्णायुर्मानुषेष्विह ।
कालोऽयं ते नरश्रेष्ठ समीपमुपवर्तितुम् ॥

सृष्टि के आरम्भ में प्रथम तत्व के रूप में उत्पन्न हुआ था । इसलिए उसके आदेश का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता । किन्तु सर्वशक्तिमान अवतार रूप राम से काल भी आक्रान्त रहता है तथा वह उनके सामने दो विकल्प रखता है कि प्रजा पालन के लिए आप अपने समय से अधिक भी पृथ्वी पर रह सकते हैं, और यदि ऐसा न चाहें तो अपने परमधाम में जा सकते हैं । राम दूसरे ही विकल्प को स्वीकार करते हैं ।

वाल्मीकीय रामायण के उपर्युक्त प्रसंगों से यह अनुमान होता है कि तत्व मीमांसा के क्षेत्र में वाल्मीकि दर्शन की विकट ग्रन्थियों का समाधान प्रस्तुत करने का विचार नहीं रखते, अपितु वे व्यावहारिक दर्शन ही उपस्थित करते हैं । किन्तु यह दार्शनिक विचार भी परम्परा एवं अध्यात्मवाद की दृढ़ भूमि पर खड़ा है । सामान्यतः यही विचार पुराणों में और साधारण जन जीवन में भी दिखाई पड़ता है । इसलिए वाल्मीकि को हम तत्व चिन्तन की दृष्टि से जनवादी दार्शनिक कह सकते हैं, शुष्क दार्शनिक नहीं ।

भौतिकवादी-विचारधारा

वाल्मीकीय-रामायण में भौतिकवादी चिन्तन धारा का भी उल्लेख हुआ है । चित्रकूट में जब राम भरत को समझा बुझा रहे थे तब जाबालि नामक ब्राह्मण ने राम को नास्तिक मत के तर्कों के द्वारा समझाने का प्रयास किया । जाबालि को वाल्मीकि ने ब्राह्मणोत्तम कहा है, किन्तु उसकी वाणी भी धर्म के विरुद्ध कही गयी है ।[1]

जाबालि के विचार भारतीय-दर्शन में सुप्रसिद्ध चार्वाक के विचारों से मिलते-जुलते हैं । इन विचारों को स्वतंत्र विचार-पद्धति के रूप में देखा जाय है । ऋग्वेद

१- रामायण २/१०८/१ ।

संहिता में इन्द्र की सत्ता में सन्देह करनेवाले अवभृत लोगों का उल्लेख है । किन्तु वहाँ ऐसे लोगों की निन्दा की गयी है, जो पूजा-पाठ नहीं करते, यज्ञ-दान आदि नहीं करते। ऋग्वेद के मण्डूक-सूक्त (७/१०३) में भी तात्कालिक धार्मिक क्रिया-कलापों पर व्यंग्य है । इस प्रकार भौतिकवादी विचारक धार्मिक क्रिया-कलापों के आरम्भ से ही विरोधी थे । कठोपनिषद् में भी भौतिकवादियों का निर्देश किया गया है कि वे धन के मोह से मूढ होते हैं, बाल बुद्धिवाले हैं, प्रमाद के कारण उन्हें परलोक के मार्ग में आस्था नहीं होती, वे केवल इसी लोक को मानते हैं, परलोक को नहीं ।[1]

रामायण में आये हुए जाबालि के विचार भी विशुद्ध भौतिकवादी तथा सुखवाद से प्रभावित हैं । जाबालि धार्मिक विचारों को प्राकृत जन के विचार बतलाते हैं । वे कहते हैं कि संसार में कोई किसी का नहीं है । जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला मरता है ।[2] जो मनुष्य माता-पिता समझ कर किसी के प्रति आसक्त होता है, वह पागल है । माता, पिता, घर और धन तो मनुष्य की यात्रा में पड़नेवाले विश्राम स्थलों के समान हैं । उनमें किसी प्रकार की आसक्ति बुद्धिमत्ता नहीं है । पिता जीव के जन्म में निमित्त मात्र होता है । इसलिए न दशरथ आपके कोई थे और न आप उनके कोई हैं । राजा को जहाँ जाना था वहाँ चले गये । यह तो प्राणियों की स्वाभाविक स्थिति है । आप व्यर्थ ही पिता के आदेश को धर्म समझ कर कष्ट उठा रहे हैं ।

जाबालि के विचारों में धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है । यह केवल मूर्खतावश

१- कठोपनिषद् १/२/६ । न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

२- रामायण २/१०८/३ । एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ।

दुःख भोगने का उपाय है । जिन जिन लोगों ने धन को छोड़कर धर्म को धारण किया है उन्होंने संसार में धर्म के नाम पर केवल दुःख ही भोगा है ।

श्राद्ध की निन्दा करते हुए जाबालि कहते हैं कि यह लोगों का भ्रम है कि श्राद्ध में किया हुआ दान पितरों को मिलता है इसमें केवल अन्न का नाश होता है और कुछ नहीं । मरा हुआ मनुष्य क्या कभी कुछ खा सकता है ? यदि यहाँ दूसरे का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में चला जाता है तो परदेश में जानेवाले के लिए श्राद्ध ही कर देना चाहिए, उन्हें मार्ग के लिए भोजन देना ठीक नहीं ।[१] यह व्यंग्य वस्तुतः श्राद्ध में कराये जानेवाले ब्राह्मण भोजन पर है जिसके माध्यम से लोग अपने पितरों की प्रसन्नता और तृप्ति समझते हैं । चार्वाक दर्शन में भी ठीक ऐसी ही बात कही गयी है कि मरे हुए जन्तुओं का श्राद्ध करने से उन्हें तृप्ति मिलती होती तो बुझे हुए दीपक की शिखा को भी बढ़ाया जा सकता है । इसी प्रकार परदेश जानेवाले लोगों के लिए मार्ग का भोजन देना व्यर्थ है क्योंकि घर में किये गये श्राद्ध से ही उन्हें मार्ग में तृप्ति मिल जायेगी । स्वर्ग में स्थित पितृगण या देवगण यहाँ दान करने से तृप्त होते हों तो प्रासाद के ऊपर बैठे हुए लोगों के लिए नीचे तल्ले पर ही भोजन रख देने से तृप्ति क्यों नहीं मिल जाती ?[२]

जाबालि का यह मत प्रतिपादित करते हैं कि दान का महत्त्व दिखाने के लिए वेद आदि ग्रन्थों का निर्माण बुद्धिमान मनुष्यों ने किया है । यज्ञ-पूजा, दान, तपस्या, संन्यास

१- रामायण २/१०८/१५ ।

२- माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक-दर्शन, श्लोक १५-१० ।

शोभा कुमारी

आदि की ओर सामान्य मानवों को प्रवृत्त करके वे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करते हैं ।[1] वे कहते हैं कि इस लोक के अतिरिक्त दूसरा कोई लोक नहीं है । जिसके फल भोगने के लिए धर्मादि के पालन की आवश्यकता हो । जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसे प्राप्त कीजिये और परोक्ष पारलौकिक लाभ को पीछे ढकेल दीजिये (प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु)। यहाँ जाबालि प्रत्यक्ष प्रमाण की एकमात्र उपादेयता बताते हैं । प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होनेवाली बाह्य वस्तुओं को छोड़कर जो दुःख, तपस्या, व्रत, उपवास आदि करता है, वह मूर्खशिरोमणि है । चार्वाक मतानुयायी कहते हैं कि संसार में सुख-दुःख का मिश्रण तो रहता ही है, पुरुषार्थी लोग उसमें से सुख को निकाल कर भोग करते हैं और दुःखांश को छोड़ देते हैं "वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्" की नीति पर सभी भौतिकवादी चलते हैं । इसलिए जाबालि के तर्कों का भी सार यही है कि राम को व्यर्थ ही पिता के आदेश पर चलने की आवश्यकता नहीं है । वे आदेश तो उनके साथ ही चले गये । अब अयोध्या आपकी प्रतीक्षा में है । आप राज्य-सुख का भोग करें ।

भौतिकवाद का खण्डन

रामायण में जाबालि के इन तर्कों को पूर्व-पक्ष की ओर से ही उपस्थित किया गया है । राम इन तर्कों का अगले सर्ग में ही समुचित प्रतिवाद करते हैं तथा वेदोक्त धार्मिक-व्यवस्था की स्थापना करते हैं । वे जाबालि के वचनों को कार्य के समान दिखायी पड़नेवाला अपथ्य बतलाते हैं ।[2] राम बहुत पड़नेवाला अकार्य और पथ्य के समान दिखायी

१- रामायण २/१०८/१६ । दानसंवनना ह्येते ग्रन्थाः मेधाविभिः कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥

२- रामायण २/१०९/२ । अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसन्निभम् ।

ही मधुर नीति से जाबालि के मतों का खण्डन करते हैं । इसमें वे रोष या आवेश प्रकट नहीं करते । वे कहते हैं कि जो पुरुष धर्म या वेद की मर्यादा त्याग देता है उसकी प्रवृत्ति पापकर्म में हो जाती है । वह कभी सम्मान नहीं पाता । कुलीन-अकुलीन का अन्तर यह आचार ही करता है । वीर और वीमानी एवं पवित्र और अपवित्र का भेद भी यह आचार ही करता है । जाबालि के मत पर चलनेवाला व्यक्ति बाहर से श्रेष्ठ दिखायी पड़ने पर भी अनार्य होगा । वह शीलवान् प्रतीत होते हुए भी चरित्रहीन होगा । जाबालि के उपदेश पर चलने से संसार में कार्यों का मिश्रण हो जायेगा । कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कोई भेद-भाव नहीं रहेगा । कभी मनुष्य किसी एक कार्य में प्रवृत्त होगा तो कभी उसे छोड़कर दूसरा कार्य भी कर सकता है क्योंकि उसका लक्ष्य तो अर्थ और काम की प्राप्ति होगी । इन दोनों विषयों में मृग-तृष्णा के लिए अवकाश है ।

राम कहते हैं कि इस स्वच्छन्द मत पर चलने के कारण पहले तो मैं स्वेच्छाचारी बन जाऊँगा और फिर मेरी प्रजा भी स्वेच्छाचारी हो जायेगी । यह किसी भी राज्य के विनाश के लिए पर्याप्त कारण है कि राजा-प्रजा दोनों स्वच्छन्द आचरणवाले हों, धर्म की मर्यादा न समझते हों ।

राम सत्य की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि सत्य ही प्रधान धर्म है, सनातन आचार है, राज्य भी सत्यस्वरूप है, सत्य में ही सारे लोकों की प्रतिष्ठा है ।[1] ऋषियों और देवताओं ने सदा सत्य का आदर किया है । सत्यवादी मनुष्य अक्षय परमधाम में जाता है । सत्य ही ईश्वर है, यही सबका मूल है, इससे बढ़कर दूसरा कोई पद नहीं । दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सबका आधार सत्य ही है । इसलिए सबको

१- रामायण २/१०९/१० ।

सत्यपरायण होना चाहिए। मिथ्याचारी पुरुष से लोग उसी प्रकार डरते हैं, जैसे सर्प से। इसलिए मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ और सत्य का पालन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। पहले सत्य पालन की प्रतिज्ञा करके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञान से विवेकशून्य होकर पिता के सत्यपालन की मर्यादा भंग नहीं करूँगा।[1]

सत्य-धर्म से भ्रष्ट व्यक्ति चंचलचित्त होता है, उसके दिये हुए हव्य-कव्य को देवता और पितर ग्रहण नहीं करते। सत्य-धर्म समस्त प्राणियों के लिए हितकर और सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य का पाप तीन प्रकार का होता है --कायिक, वाचिक और मानसिक।[2] सत्य पर चलनेवाले पुरुष को भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी ये चारों चीजें मिलती हैं। शिष्ट पुरुष सत्य का ही अनुसरण करते हैं। जाबालि के मत को स्वीकार करने से सत्य और न्याय दोनों का स्पष्ट उल्लंघन होता है इसलिए मैं पिता के सामने जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, उसे छोड़ नहीं सकता। प्रतिज्ञापालन में यदि भौतिक कष्ट भी हो तो भी वह शिरोधार्य है। पिता की आज्ञा के पालन का आनन्द बहुत बड़ा है।

राम संसार को कर्मभोगी कहते हैं। यहाँ आकर शुभ-कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि अग्नि, वायु और सोम भी कर्मों के ही फल से अपने-अपने पदों के अधिकारी बने हैं। इन्द्र ने सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके स्वर्ग पाया है। और महर्षियों ने उग्र तपस्या से दिव्य लोकों में स्थान प्राप्त किया है।

स्वर्ग लोक का मार्ग सत्पुरुषों के द्वारा निम्नलिखित कर्मों के रूप में है --

---

१- रामायण २/१०९/१० ।

२- रामायण २/१०९/२१ । कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्मपातकम् ॥

सत्य, धर्म, पराक्रम, सभी प्राणियों पर दया, प्रिय बोलना, ब्राह्मणों, देवताओं तथा अतिथियों की पूजा करना ।[1]

राम ने जाबालि को नास्तिक मत के प्रतिपादन के कारण पाखण्डी बतलाया तथा यह कहा कि पिता ने जो आपको अपना याजक बना लिया था उनके इस कार्य को मैं निन्दा करता हूँ । राजा का यह कर्त्तव्य है कि चोर के समान नास्तिकों को दण्ड दिलवावे न कि उनका सम्मानकरे । प्राचीन काल से ब्राह्मण लोग वेदों को प्रमाण मान कर स्वस्ति (अहिंसा, सत्य आदि), कृत (तप, दान, परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ याग) कर्मों का सम्पादन करते चले आ रहे हैं । धर्म में तत्पर तेज से सम्पन्न, दान गुण की प्रधानतावाले अहिंसक तथा शुचि जन ही संसार में पूज्य होते हैं ।

राम की बातें जाबालि को लग गयीं और उन्होंने अपने वास्तविक रूप को प्रकट किया कि आपको केवल वनवास से रोकने के लिए मैंने नास्तिक मत का प्रतिपादन किया था । मैं नास्तिक नहीं हूँ । और परलोक आदि में मेरा अविश्वास नहीं है ।[2] अवसर देखकर मैं आस्तिक बन गया हूँ और लौकिक व्यवहार के समय आवश्यकता होने पर मैं पुनः नास्तिकों के समान बातें कर सकता हूँ । इस समय चूँकि ऐसा अवसर आ गया था इसलिए मैंने धीरे-धीरे नास्तिकों की बहुत-सी बातें कह डालीं । मैंने जो यह बात कही, इसमें मेरा उद्देश्य यही था कि किसी तरह आपको प्रसन्न करके अयोध्या लौटने के लिए तत्पर करूँ ।

१- रामायण २/१०९/३१ ।

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥

२- रामायण २/१०९/३८ ।

जाबालि की इस बात का समर्थन वशिष्ठ ने भी किया और कहा कि इस लोक के प्राणी परलोक में जाते और वहाँ से लौटते हैं। जाबालि पुनः जन्म के सिद्धान्त को जानते और मानते हैं।[1] जाबालि का उद्देश्य आपको किसी प्रकार अयोध्या लौटाना ही था। इस प्रसंग में वशिष्ठ ने संसार की उत्पत्ति का पौराणिक मत सुनाया कि किस प्रकार जल से पृथ्वी का निर्माण हुआ, ब्रह्मा उत्पन्न हुए और क्रमशः विभिन्न वंशों की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार जाबालि के भौतिकवादी एवं नास्तिक मत का पर्यवसान श्रीराम तथा उनके गुरु वशिष्ठ के आध्यात्मिक तत्व चिन्तन में हुआ। यही वाल्मीकीय रामायण का स्वरूप है, सिद्धान्त पक्ष है।

::0::

१- रामायण २/११०/१ ।

अध्याय ५

रामायण में पुरुषार्थ-कल्पना

पुरुषार्थ का परिचय -- कर्मवाद --निराशावाद --
आशावाद -- पुरुषार्थ चिन्तन -- धर्म और उसका
अर्थ -- सत्य और धर्म में सम्बन्ध -- धर्म और
त्रिवर्ग -- काम और अर्थ धर्म से सम्बन्ध -- काम
की शक्ति का वर्णन -- अर्थ की परिभाषा और
विनियोग -- धर्म और नैतिक मूल्य -- मोक्ष ।

:।:
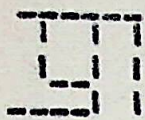
प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव-जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से समुन्नत करने के लिए पुरुषार्थ की कल्पना की थी । इन विचारकों ने जीवन के भौतिक सुख का समन्वय आध्यात्मिक उन्नयन के साथ किया था । शरीर की आवश्यकताओं और कामनापरक वृत्तियों की पूर्ति के लिए तो मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहता ही है, किन्तु इनके अतिरिक्त जीवन को संयम और नियम से व्यवस्थित करके आदर्शपूर्ण बनाना भी उसका परम कर्तव्य है । भौतिक सुख की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु इसी को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेना भी जीवन-दर्शन नहीं है । हमारे आध्यात्मिक नेताओं ने कहा था कि सांसारिक मोह-माया और ऐश्वर्य-गौरव मनुष्य को सन्मार्ग का दिग्दर्शन नहीं कराते, अपितु दिग्भ्रान्त करते हैं । इसीलिए मानव-जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख होना चाहिए । भोगपरक वृत्तियों का अस्तित्व क्षणिक होता है जबकि आध्यात्मिक वृत्तियाँ स्थायित्व प्रदान करती हैं । भारतीय जीवन-दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वित रूप है जिसे पुरुषार्थ कहा गया है ।

इसके अन्तर्गत मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष पाता है । भारतीय विचारधारा में विभिन्न कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष पाना परम उद्देश्य बतलाया गया है । पुरुषार्थ के अन्तर्गत अन्य सभी उद्देश्यों के साथ-साथ मोक्ष की प्राप्ति को अन्तिम उद्देश्य कहा गया है । इसीलिए मानव-जीवन की सार्थकता धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष -- इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति में है ।

शोभा कुमारी

प्रथम तीन को त्रिवर्ग कहते हैं और अन्तिम पुरुषार्थ को मिलाकर चतुर्वर्ग की कल्पना होती है । धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इन सभी की सम्यक् विवेचना हुई है ।

कर्मवाद

पुरुषार्थ की कल्पना की पृष्ठभूमि में आत्मा की अमरता और कर्मवाद ये दो प्रमुख सिद्धान्त भारतीय दर्शन में माने गये हैं । भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के उपदेश भी इन दोनों सिद्धान्तों को आधार मानकर ही प्रवृत्त होते हैं । वैदिक मंत्रों में अमरता प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है । ऋग्वेद के दशम मण्डल में मंत्र आया है जिसमें यमलोक में गयी हुई आत्मा को पुनः दूसरे शरीर में प्रवेश करने के लिए कहा गया है ।[1] अथर्ववेद में आत्मा के पुनर्जन्म का व्यावहारिक रूप में वर्णन मिलता है ।

जहाँ तक कर्म सिद्धान्त का प्रश्न है इसका अर्थ यह है कि प्राणी अपने कर्मानुसार शुभाशुभ फल भोगता है । बृहदारण्यकोपनिषद् में यह स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा मृत्यु-काल में अपने जीवन-काल के सभी कर्माशयों को लेकर आती है । यह कर्माशय ही निश्चित करता है कि आत्मा को अगले जन्म में कौन-सा आकार मिलेगा ।[2] वाल्मीकि लिखित रामायण में इस कर्म-सिद्धान्त की चर्चा ही नहीं, अपितु व्यावहारिक व्याख्या भी प्राप्त होती है । इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का सुख-दुःख उसके कर्म का ही फल है । समृद्धि, रूप, बल, पुत्र, धन, वीरता आदि की प्राप्ति पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से ही होती

१- ऋग्वेद १०/५८/१ ।

२- बृहदारण्यकोपनिषद् ३/२/११ ।

है ।[1]

समस्त जीवन का मूल प्रयोजक कर्म ही है ।[2] जाबालि से राम ने कहा था कि यह संसार शुभाशुभ कार्य करने और उनके फल को भोगने का स्थान है, यह कर्म-भूमि है । मनुष्य ही नहीं, देवता भी अपने कर्मों का फल भोगते हैं ।

यह कर्मवाद कार्य-कारण सिद्धान्त पर आश्रित है । इस विषय में रामायण में कई श्लोक हैं कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है (यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ७/१५/२५), कर्ता को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ हो ।[3] शुभ काम करनेवाला शुभ फल पाता है और अशुभ काम करनेवाला अशुभ फल भोगता है । विभीषण ने सुख पाया और रावण ने दुर्गति पायी ।[4] लंका में बन्दिनी सीता यह चिन्तन करती थी कि जन्मान्तर में मैंने ऐसा कौन-सा महान् पाप किया जिसका फल इस दारुण कष्ट के रूप में मिल रहा है ।[5] राम ने भी स्वीकार किया था कि राज्यनाश, स्वजन-वियोग, पिता का परलोक-गमन और पत्नी का अपहरण – इस प्रकार संकटों की परम्परा पूर्वजन्म के पापों का ही फल है ।

१- रामायण ७/१५/२६ । ऋद्धिं रूपं बलं पुत्रान् वित्तं शूरत्वमेव च ।
प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्यकर्मभिः ॥

२- रामायण ६/६४/७ । कर्म चैव हि सर्वेषां कारणानां प्रयोजकम् ।

३- वही २/६३/६ ।

४- वही ६/११/२६ । शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते ।
विभीषणः सुखं प्राप्तस्त्वं प्राप्तः पापमीदृशम् ॥

५- वही ५/२५/१८ ।

रामायण में कर्म और उसके फल में सामंजस्य की कल्पना की गयी है । कर्म की मात्रा जितनी होगी, फल की मात्रा भी उसी अनुपात में होगी । उत्तरकाण्ड में सीता परित्यक्त होने पर कहती है कि पूर्वकाल में मैंने किसी पति को उसकी पत्नी से वियुक्त कराया होगा ।[1]

कर्मफल के साथ यह कथन है कि किसी दूसरे व्यक्ति के किये हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को भोगना नहीं पड़ता । न तो किया हुआ कर्म नष्ट ही होता है और न दूसरे को ही अकृत कर्म का फल मिलता है । दूसरे शब्दों में, कर्म-सिद्धान्त में कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम का प्रश्न नहीं उठता । सामान्यतः व्यक्ति कर्म के आरम्भ में उसके फल पर भी विचार कर लेता है, केवल मूर्ख लोग ही बिना फल पर विचार किये हुए कर्म करते हैं ।[2] जब प्राणियों का अन्त काल निकट आता है, तब वे अपने कर्मों में प्रमाद करने लगते हैं ।[3]

कर्मों का फल समय पर मिलता है । जिस प्रकार के धान के पकने में समय लगता है उसी प्रकार कर्मफल की प्राप्ति में भी कुछ समय लगता है । कर्म के फल का समय भी निश्चित रहता है, किन्तु उसे क्रिया या उद्योग के द्वारा ही प्रकाशित किया जा सकता है । यही युक्ति लेकर लक्ष्मण ने राम को सीता की खोज के लिए प्रोत्साहन दिया था ।

रामायण में यह सिद्धान्त भी इस प्रसंग में प्रतिपादित किया गया है कि अपेक्षाकृत उग्र पाप और पुण्य का फल शीघ्रता से मिलता है । सीताहरण जैसे पाप कर्म का फल

१- रामायण ७/४१/४ ।

२- वही २/६३/७ ।

३- वही ३/५६/१६ ।

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

रावण को शीघ्र मिला ।[1]

तेजस्वी ऋषियों के द्वारा दिया गया शाप भी कर्म-सिद्धान्त का ही समर्थन करता है । अपराधी को अपने कर्म का फल इस शाप से शीघ्र मिलता है, किन्तु वाल्मीकि ने अपराधी को दण्डित करने की इस विधि का विरोध किया है । वे कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष क्षमा करते हैं, शाप नहीं देते । इसलिए क्रूर स्वभाववाले प्राणियों का भी कभी अहित नहीं करना चाहिए ।[2] ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम मार्ग यह है कि परमात्मा पर ही न्याय की व्यवस्था छोड़ दी जाए, जो प्राणियों के लिए कर्मानुसार फल की व्यवस्था करते हैं।

कठोर कर्म-सिद्धान्त के कुछ अपवाद भी बतलाये गये हैं,जैसे धर्माचरण से पापों का निवारण होता है । तीर्थ-यात्रा, पुण्य-कथाओं का श्रवण, गंगा-स्नान, यज्ञ और तपस्या से व्यक्ति के पाप नष्ट होते हैं । इसी प्रकार यदि किसी अपराधी को राजदण्ड मिल जाय तो उसे नरक का भय नहीं रहता ।[3]

कर्म-सिद्धान्त का ही एक अंग स्वर्ग और नरक की कल्पना भी है । उत्कृष्ट कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और निकृष्ट कर्म से नरक मिलता है । रामायण में सर्वत्र परलोक का अस्तित्व माना गया है । उसकी प्राप्ति उत्तम कर्म से ही होती है ।[4] कैकेयी ने लक्ष्मण को परलोक के लिए हितकर माना था । स्वर्ग का निवास पुण्य की अवधि तक ही चल सकता था । पुण्य का नाश होने पर तो प्राणी को पृथ्वी पर आना ही पड़ता है। रामायण में पुण्य-क्षीण हो जाने पर भूमि में आने के कई उल्लेख मिलते हैं ,राजा ययाति को इसी कारण देवलोक से भ्रष्ट होना पड़ा ।[5] गृह भी पुण्य नष्ट होने पर पृथ्वी पर

१- रामायण ६/६३/१ ।

२- वही ६/११३/४४ ।

३- वही ७/५८/११ ।

४- वही २/१०५/४४ ।

५- वही २/१३/१ ।

गिरते हैं ।[1]

निराशावाद

कर्मवाद में गहन निष्ठा और दैव के विधान में अटल आस्था से सामान्य लोगों का दृष्टिकोण निराशामय बन जाता है । राम भरत को समझाते हुए जीव की पराधीनता का प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर के समान जीवन को स्वाधीनता नहीं मिलती । कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं कर सकता । काल जीव को इधर-उधर खींचता रहता है । सभी संग्रह का परिणाम विनाश है, लौकिक उन्नति का अन्त पतन है, संयोग के बाद वियोग होता है और जीवन का अन्त मरण है ।[2] जैसे पके हुए फलों को पतन के अतिरिक्त कोई भय नहीं उसी प्रकार मनुष्य को मृत्यु के अतिरिक्त और कोई भय नहीं । ऋतुओं को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं, किन्तु उनके परिवर्तन से प्राणियों की आयु क्रमशः घटती जाती है ।

इन विचारों से यह प्रतीत होता है कि मनुष्य का अपने हाथ में कुछ नहीं है, वह दैव के अधीन विवश है । लौकिक जीवन की क्षणभंगुरता निराशावाद की गहन अनुभूति कराती है । किन्तु कभी-कभी आशा की किरणें भी इसी निराशा में झलकती हैं । निराशावाद को वाल्मीकि ने पलायन का प्रयोजक नहीं माना, अपितु यह कहा कि जीवन सरल नहीं है ।[3] भूख-प्यास, शोक-मोह और दुःसमय होने पर भी उसे नष्ट कर देना सरल नहीं है । उनसे मुक्ति पाना कठिन है, अतः जरा-मरण के द्वन्द्व सभी प्राणियों में समान रूप से हैं उनसे मुक्ति पाना कठिन है, अतः उनसे शोकातुर होना उचित नहीं ।[4] जीवन जब पानी के बुलबुले के समान क्षणिक है तो

१- रामायण ७/१४/२२ ।
२- वही २/५०/२२ ।
३- वही २/१०५/१६ ।
४- वही २/७७/२३ ।

कौन किसके लिए शोक करे । गीता में कृष्ण ने भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था कि जन्म लेनेवाला व्यक्ति अवश्य मरता है और मरा हुआ व्यक्ति पुनः जन्म लेता है । इस अपरिहार्य नियम को देखते हुए शोक न करें ।[1]

यह उपदेश संस्कृत साहित्य में बहुत लोकप्रिय है तथा विभिन्न भंगियों से इसे दुहराया गया है । दार्शनिक साहित्य तो इस विषय में बहुत ही मुखर है । वाल्मीकि जीवन को अपरिहार्य नियम से चलनेवाला मानकर भी उसे निवृत्ति मार्गी दार्शनिकों के समान बन्धन रूप में चित्रित नहीं करते । जिस प्रकार उपनिषदों में और दार्शनिक सम्प्रदायों में संसार को बन्धन बतलाकर जन्म-मरण के चक्र से मोक्ष दिलाना जीवन का लक्ष्य माना गया है वैसा वाल्मीकि नहीं मानते । प्राणियों पर संकट आना स्वाभाविक है और सुख पाना एक कठिन संयोग है । उस व्यक्ति को सुख अवश्य प्राप्त होता है जो जीवित रहना चाहता है । भरत कहते हैं कि मनुष्य यदि जीता रहे तो उसे कभी-न-कभी हर्ष और आनन्द की प्राप्ति होगी ही, भले ही सौ वर्षों के बाद हो ।[2]

रामायण में निराशावाद के भाव उन्हीं पात्रों द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं जो किसी कारण दुर्भाग्य के आखेट बने हैं । सीता में ऐसा भाव होना स्वाभाविक है, जो परा-धीन मानव-जीवन को धिक्कारती है । जहाँ अपनी इच्छा से प्राण भी त्यागे नहीं जा सकते[3]

१- गीता २/२७।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

रामायण २/१०५/३० । तमात्मनः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ।

२- वही ६/१२६/२ ।

३- वही ५/२५/२० ।

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम् ।
न शक्यं यत् परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥

इसी प्रकार सीता के वियोग में व्याकुल राम भी निराशा के भाव में बहते हैं, भाग्य को उपालम्भ देते हैं, किन्तु वैरी से प्रतिशोध के लिए उत्तेजित नहीं होते । ऐसे संकट-काल में लक्ष्मण में उत्साह की भावना दिखायी पड़ती है । वे अपने भाई को उत्साहित करते हैं और उन्हें प्रयास करने की प्रेरणा देते हैं । धैर्य धारण करने के लिए वे राम से आग्रह करते हैं क्योंकि बुद्धि सम्पन्न पुरुषों को आपत्तियों से चंचल नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार निराशावाद के विरोध में सुग्रीव भी राम को उद्बोधित करते हैं कि उत्साहहीन, दीन और शोकाकुल व्यक्ति के सारे काम बिगड़ जाते हैं और वह संकट में पड़ जाता है ।[1] अंगद जैसे सामान्य पात्र में भी उत्साहवर्धन करने और विषाद को दूर करने की अद्भुत क्षमता है । इसी प्रकार आत्महत्या की घोर निन्दा की गयी है । जीवन की रक्षा करने से कभी-न-कभी सफलता मिल ही सकती है ।

आशावाद

निराशावाद की भावना वाल्मीकीय रामायण में मनोवैज्ञानिक कारणों से हुई है । जिस प्रकार भवभूति ने उत्तर रामचरितम् के संविधानक को दृष्टि में रखकर "एको रसः करुण एव" की उद्घोषणा उसी प्रकार रामायण के पात्र अपनी विशिष्ट मनःस्थिति में ही जीवन को पराधीन, भाग्य के वश में चलनेवाला तथा निराशापूर्ण बतलाते हैं । सामान्यतः रामायण की अन्तर्भावना ऐसी निराशा अभिव्यक्त करने की नहीं है । यह नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकि जीवन को नैराश्य के अन्धकार में निमग्न देखते हैं । वाल्मीकि की प्रथम काव्य-

---

१- रामायण ६/२/६ । निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ।

रचना शोक अर्थात् निराशा के वातावरण में उत्पन्न हुई थी इसलिए काव्यशास्त्रियों ने रामायण में करुण रस की प्रधानता मानी है[1] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि का दर्शन भी निराशावादी होगा । सीता के वियोग से अत्यन्त दुःखी होकर वाल्मीकि ने जीवन को निराशावाद के दर्शन से संवलित पाया होगा ।

किन्तु यह आंशिक सत्य ही है । निराशावाद के साथ-साथ कवि वाल्मीकि ने आशावाद की किरणें भी देखी हैं । आशावादी दृष्टि राष्ट्र की समृद्धि और वैभव का नैसर्गिक परिणाम होती है ।[2] रामायण के कतिपय अपवादों को छोड़ दें, जहाँ व्यक्तिगत दुःख और स्थानीय संकट दिखाये गये हैं, तो रामायण का वातावरण हर्ष और उल्लास का मिलता है । जन सामान्य का नैतिक-जीवन समृद्धि ,शिक्षा और कला से परिपूर्ण था । अयोध्या नगरी का वर्णन हो या रावण की पुरी लंका का, सर्वत्र वाल्मीकि ने आशावादी दृष्टि रखी है । वैभव-विलास, सुख-समृद्धि तथा आनन्द के सागर में वाल्मीकि का युग तैरता है । सुखवाद जैसे अतिवादी दृष्टिकोणों का भी उन्होंने प्रदर्शन किया है । किन्तु यह कवि की दृष्टि रही है कि नैतिक-मूल्यों का तिरस्कार करके सुखोपभोग न किया जाए । इसी शिक्षण की भावना से उन्होंने रावण जैसे लम्पटों का वैभवमय जीवन दिखाकर नैतिक-मूल्यों की उपेक्षा होने के कारण उसका सर्वनाश भी प्रकट किया है ।

राम ने स्पष्ट कहा है कि नैतिकता और सत्य की उपेक्षा करके सुख भोगना अधर्म है । जाबालि के नास्तिकवादी एवं सुखवादी विचारों के प्रतिवाद में उन्होंने स्पष्ट

१- आनन्दवर्धन - ध्वन्यालोक १/५ तथा पृष्ठ २३०(रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः इत्येवंवादिना ।

२- डा० शान्तिकुमार व्यास - रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २८३ ।

रूप से जीवन के आदर्श को प्रकट किया है ।

पुरुषार्थ-चिन्तन

रामायण के अनुसार जीवन का आदर्श एकांगी नहीं है । न केवल निराशा को ही जीवन का लक्ष्य कहा जा सकता है और न आशावादी दृष्टि से सुख का उपभोग करना ही जीवन का एकमात्र ध्येय है । मानव के सफल जीवन के लिए आध्यात्मिक,व्यावहारिक और भौतिक सभी पक्षों का यथोचित सेवन आवश्यक है । दशरथ के वचनों में तात्कालिक पुरुषार्थ चिन्तन के सूत्र प्राप्त होते हैं । उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज पद देने के समय कहा था[1]-- हे पुत्र, मैं अब वृद्ध हो गया, मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी । मैंने बहुत से मनोवांछित भोग प्राप्त कर लिये हैं । अन्न और प्रचुर दक्षिणा से युक्त सैकड़ों यज्ञ भी मैंने कर लिये हैं । तुम मेरे परम प्रिय अभीष्ट अपत्य के रूप में प्राप्त हुए हो जिसकी इस पृथ्वी में कहीं उपमा नहीं है । मैंने दान,यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये हैं । अभीष्ट सुखों का अनुभव मैंने कर लिया है । देवता, ऋषि , पितर और ब्राह्मणों के तथा अपने ऋण से भी मैं उऋण हो चुका हूँ । अब तुम्हें युवराजपद पर अभिषिक्त करने के अतिरिक्त अब कोई कर्तव्य मेरे लिए शेष नहीं है । दशरथ ने इसके बाद शीघ्र राम को युवराज पद देने के कारण भी बतलाये ।

इस सन्दर्भ से मानव जीवन के उद्देश्यों का पता लगता है कि यह जीवन कर्म स्थल है । सुख का भोग करते हुए धर्मशास्त्रों में विहित कर्मों का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है । इससे जीवन के प्रति लोगों के आशापूर्ण दृष्टिकोण का पता लगता है । निरन्तर

१- रामायण २/४/१२-२० ।

कर्मठता और जीवन को अधिकाधिक श्रेष्ठ बनाने की लालसा आश्रम-जीवन में भी महत्त्व रखती थी। वानप्रस्थ और संयास आश्रम अध्यात्मवाद से प्रेरित होने पर भी निर्वेद और खेद से उत्पन्न नहीं हुए थे।[1] उनकी व्यवस्था एक सुचिन्तित जीवन योजना का परिणाम थी। इस तथ्य का ध्यान रखा गया था कि जीवन का कोई भी अंग अपूर्ण न रहे।

इसी प्रसंग में भारतीय संस्कृति में स्वीकृत पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना महत्त्व रखती है। लोगों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना था। ये पुरुषार्थ ही भारतीय समाज को अन्य समाजों से पृथक् करते थे। इन पुरुषार्थों में आशावाद और निराशावाद दोनों का समन्वय किया गया था। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों पक्षों का अद्भुत समागम इनमें निहित था। लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवनों का यह सफल प्रकाशन था। वाल्मीकि के दार्शनिक चिन्तन में भी इन पुरुषार्थों का यथेष्ट महत्त्व था। जीवन को व्यापक रूप में देखनेवाले वाल्मीकि ने प्राचीन भारतीय परम्परा को इन पुरुषार्थों में अभिव्यक्त होते हुए देखा था। यहाँ उन पर विचार अपेक्षित है।

धर्म

संस्कृत भाषा में धर्म शब्द अनेक अर्थ धारण करता है। कहीं तो यह पुरुषार्थ के अंग के रूप में स्वीकृत है, तो कहीं किसी वस्तु की विशेषता के अर्थ में आता है। कहीं नियमों को धर्म कहते हैं, तो कहीं लोकोत्तर तत्त्व के प्रति निष्ठा और उपासना को धर्म के अन्तर्गत रखा जाता है। धर्म-दर्शन की चर्चा जब हम करेंगे तो इस अन्तिम अर्थ का

1- डॉ० शान्तिकुमार व्यास - रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २८५।

ही ग्रहण किया जायेगा । किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में जहाँ पुरुषार्थ की विवेचना की जा रही है, यह धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता के रूप में है । महाभारत में आचार को धर्म कहा गया है ।[1] वाल्मीकीय रामायण में भी धर्म का अर्थ सदाचार तो है ही, सदाचारी जीवन के समस्त प्रेरक सद्गुणों को धर्म के अन्तर्गत रखा गया है । इसके विपरीत जानेवाले सभी कार्य-कलाप अधर्म कहलाते हैं । धर्म को सीता ने जीवन के समस्त उत्कर्ष का मूल स्रोत बतलाया है--

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ।

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥[2]

तदनुसार धर्म से अर्थ और सुख की प्राप्ति तो होती ही है, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो धर्म से प्राप्य न हो, इस जगत् की एकमात्र सार वस्तु धर्म ही है ।

धर्म के समान कोई तत्व संसार में नहीं है । चतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न नियमों के द्वारा शरीर को क्षीण करके यत्नपूर्वक धर्म का सम्पादन करते हैं । सुख देनेवाले साधनों से सुख के कारण रूप धर्म की प्राप्ति नहीं होती ।[3] तात्पर्य यह है कि धर्म का मार्ग सुखद नहीं होता, क्लेश साध्य होता है । हनुमान् ने भी रावण से कहा था कि तुमने तपस्या से धर्म प्राप्त किया और धर्म से तुम्हें ऐश्वर्य मिला उसी धर्म से तुमने शरीर और प्राणों को चिरकाल तक धारण करने की शक्ति प्राप्त की है । उस धर्म का विनाश करना कभी ठीक नहीं है ।[4]

वाल्मीकि एक सामान्य नीतिशास्त्री के समान यह मानते हैं कि संसार में जो

१- महाभारत, अनुशासन पर्व ५४/९ आचारलक्षणो धर्मः ।
२- रामायण ३/९/३० ।
३- वही ३/९/३१ ।
४- वही ५/५१/२५ ।

प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं --एक नैतिक शक्ति है और दूसरी अनैतिक शक्ति है। इन्हें क्रमशः पुण्य और पाप की वृत्तियाँ भी कहते हैं । ये दोनों शक्तियाँ प्रधानता के लिए परस्पर संघर्ष करती हैं । संसार में दोनों शक्तियों में विश्वास करनेवाले मनुष्यों की जीवन धाराएँ भी पृथक्-पृथक् हैं । यहाँ दोनों के समन्वय का कभी प्रश्न ही नहीं उठता । दोनों शक्तियों का संघर्ष शाश्वत है । राम धर्म के मूर्तिमान रूप हैं,जो अधर्म और समस्त दुष्टवृत्तियों के विरुद्ध हैं । अन्त में, धर्म की विजय होती है ,यद्यपि बीच बीच में अधर्म भी सिर उठाता दिखाई पड़ता है । धर्म या तो सत्य का दूसरा रूप है या सत्य को धारण करनेवाला परम तत्व है ।[1] वाल्मीकि धर्म को तो मानव-जीवन का लक्ष्य मानते हैं और सत्य को वस्तुओं का अस्तित्व कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जगत् का अस्तित्व धर्म के द्वारा नियंत्रित होता है ।[2] जिस प्रकार वैदिक साहित्य में ऋत और सत्य का पर्याय के रूप में प्रयोग होता है उसी प्रकार वाल्मीकि भी धर्म और सत्य दोनों को परस्पर पर्याय समझते हुए इनका प्रयोग करते हैं ।[3] सत्य और धर्म परस्पर इतने समन्वित हैं कि सत्य में धर्म और धर्म में सत्य कहना वाल्मीकि के लिए कोई आश्चर्य नहीं है । कैकेयी दशरथ से कहती है --

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।

सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृतामतिः ।[4]

१- रामायण २/२१/४१ धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।

२- डा० बेन्जामिन खान - दी कन्सेप्ट आफ धर्म इन वाल्मीकि रामायण, पृ० ५०।

३- रामायण २/१८/२४ तथा २/१०९/१३,१९ । ४- वही २/१४/७-८ ।

अर्थात् सत्य ही प्रणव रूप शब्द ब्रह्म है । सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है । सत्य ही अविनाशी वेद है । सत्य से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है । यदि आपकी बुद्धि धर्म में अवस्थित है तो सत्य का अनुसरण कीजिये । इस प्रसंग तथा अन्यान्य प्रसंगों से भी यह प्रमाणित होता है कि वाल्मीकि धर्म का मूल सत्य को स्वीकार करते हैं और सत्य से बढ़कर कुछ भी नहीं मानते हैं । इसलिए सत्य रूप धर्म में अनुरक्त व्यक्तियों के लिए मृत्यु का भी भय नहीं होता ।[१]

धर्म और त्रिवर्ग

यद्यपि धर्म मुख्यतः आत्मोन्नति का साधन है जिसमें आत्म-त्याग की प्रधानता है, किन्तु धर्म के आदेश शारीरिक और भौतिक कल्याण के भी विरोधी नहीं है । राम कहते हैं कि शरीर और आत्मा इन दोनों के कल्याण के साधनों में कोई विरोध नहीं है । इस विषय में उन्होंने स्त्री का उदाहरण दिया है जो धृति के अनुकूल रहकर धर्म के पालन में सहायक होती है, वही प्रेयसी के रूप में काम का साधन बनती है और अन्ततः पुत्रवती होकर उत्तम लोक की प्राप्ति रूप अर्थ की साधिका होती है । इसी प्रकार एक धर्म के फल की प्राप्ति होने पर धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि हो जाती है । धर्म में ही त्रिवर्ग अवस्थित है ।[२]

राम इसी प्रसंग में लक्ष्मण से कहते हैं कि जिस कार्य में धर्मादि सभी पुरुषार्थों का समावेश न हो, उसे नहीं करना चाहिए । यहाँ सभी पुरुषार्थों का अभिप्राय यह

१- रामायण ६/४९/११ । सत्य धर्माभिरक्तानां नास्ति मृत्यु कृतं भयम् ।

२- वही २/२१/५० । धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥

है कि केवल अर्थ या केवल काम में आसक्ति उचित नहीं है । केवल धर्म की सिद्धि जिससे होती हो वैसा कार्य तो आरम्भ करना ही चाहिए । केवल अर्थपरायण व्यक्ति लोक में द्वेष का पात्र बन जाता है और धर्म विरुद्ध काम में अत्यधिक आसक्ति होना निन्दा का विषय है ।[1] इससे वाल्मीकीय रामायण का स्वारस्य यह प्रतीत होता है कि काम और अर्थ का सेवन तो धर्मानुकूल ही होना चाहिए । और यदि ये धर्म के प्रतिकूल हों तो उस स्थिति में केवल धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए, काम और अर्थ त्याज्य हैं । इस प्रसंग में राम लक्ष्मण को यह भी समझाते हैं कि गुरु, राजा और पिता के अतिरिक्त वृद्ध होने के कारण जो मान्य हैं, वे क्रोध से, हर्ष से या काम से भी प्रेरित होकर किसी कार्य के लिए आज्ञा दें तो हमें उसे धर्म समझ कर पालन करना चाहिए ।

रामायण में किसी कार्य के चार नैतिक मानदण्ड बतलाये गये हैं । इन्हें राम बाली के सामने रखते हैं । ये मानदण्ड हैं -- धर्म, अर्थ, काम और लोकाचार ।[2] इन चारों मानदण्डों को न जानकर ही बाली बालोचित अविवेक के कारण राम की निन्दा करता है । यहाँ वाल्मीकि लोकाचार को इसलिए उपस्थित करते हैं कि शास्त्रों में जब किसी कर्त्तव्य कर्म के विषय में कोई स्पष्ट आदेश न मिल रहा हो तब साधु पुरुषों का लौकिक आचार ही प्रमाण होता है । प्राचीन शास्त्रों में कहा गया था कि श्रुतियों और स्मृतियों में मतभेद है । कोई ऐसा प्रामाणिक ऋषि नहीं मिलता जो धर्म को समझाये, धर्म का तत्त्व बहुत रहस्यात्मक है । इस स्थिति में महापुरुषों के द्वारा अपनाया गया मार्ग ही स्वी-

---

१- रामायण २/२१/५८ ।

२- वही ४/१८/४ । धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।

करणीय है ।[1]

काम

महर्षि वाल्मीकि त्रिवर्ग में काम को सबसे निम्न कोटि प्रदान करते हैं ।
किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव पर कुपित लक्ष्मण से तारा काम की शक्ति के विषय में कहती है कि शरीर में उत्पन्न काम का जो असह्य बल है उससे आबद्ध होकर सुग्रीव आसक्त हो रहे हैं । इस काम शक्ति के कारण सुग्रीव का मन किसी दूसरे कार्य में नहीं लगता ।[2] वह पुनः कहती है कि लक्ष्मण तो क्रोध के वश में हैं, उन्हें कामाधीन पुरुष की स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता । कामासक्त होने पर मनुष्य को देश, काल, अर्थ और धर्म का ज्ञान नहीं रह जाता अर्थात् उनकी ओर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं ।[3] काम के आवेश में सुग्रीव लाज भी छोड़ चुके हैं, इसलिए तारा कहती है कि निरन्तर धर्म और तपस्या में संलग्न रहने वाले, मोह के बल को रोकनेवाले और अविवेक से दूर रहनेवाले महर्षि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं । चंचल वानर की तो बात ही क्या ?

काम की इस शक्ति का वर्णन वाल्मीकि राम के द्वारा भी कराते हैं । वे लक्ष्मण से कहते हैं कि अपने ऊपर आये हुए संकट को और राजा के विभ्रम को देखकर मुझे ऐसा लगता है कि अर्थ और धर्म की अपेक्षा काम का ही गौरव अधिक है ।[4] किन्तु

१- महाभारत, वनपर्व ३१३/११० ।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

२- रामायण ४/३३/५४ ।

३- वही ४/३३/५५ । न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति त्वं वै यथा मन्युवशंप्रपन्नः ।

न देशकालौ हि यथार्थधर्मावेवेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ।

४-वही २/५३/८ इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् । काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥

राम को यह नीति का भी उपदेश देना पड़ता है कि जो व्यक्ति अर्थ और धर्म को छोड़कर केवल काम का अनुसरण करता है वह उसी प्रकार संकट में पड़ता है जैसे इस समय दशरथ पड़े हुए हैं --

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥[1]

काम से उत्पन्न होनेवाले अनेक व्यसनों का संकेत वाल्मीकि करते हैं जबकि दशरथ राम से कहते हैं कि काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले समस्त व्यसनों को तुम छोड़ दो । निश्चय ही इन व्यसनों में परम्परागत उन व्यसनों का संकेत है जिन्हें मनु ने अपनी स्मृति के राजधर्म प्रकरण में नामतः निर्दिष्ट किया है । मनु काम से उत्पन्न दस व्यसनों की इस प्रकार गणना कराते हैं -- मृगया, जुआ खेलना, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद्यपान, नाच-गाने में आसक्ति तथा व्यर्थ भ्रमण ।[2] राजाओं को कामज व्यसन के समान ही क्रोधजन्य व्यसनों को भी छोड़ देना चाहिए । मनु ने इस प्रसंग में पिशुनता, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, कठोर वचन और निष्ठुरता के रूप में आठ क्रोधज व्यसनों को भी गिनाया है । इसलिए दशरथ राम को युवराज पद देने के प्रसंग में कामज और क्रोधज व्यसनों का त्याग करने के लिए कहते हैं । यह स्पष्ट है कि काम सभी व्यसनों को उत्पन्न करता है क्योंकि गीता के अनुसार काम से ही क्रोध उत्पन्न होता

१- रामायण २/५३/१३ ।

२- मनुस्मृति ७/४७ । मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥

है ।[1] काम के वशीभूत होने से भयंकर दुष्परिणाम उपस्थित होते हैं । काम के वश में किये गये कार्यों का प्रभाव न केवल कर्त्ता के अपने चरित्र को दूषित करता है, अपितु अपने परिवार, समाज या यहाँ तक कि देश की राजनीति को भी संकट में डाल देता है ।[2] पाश्चात्य विचारकों ने इसलिए कहा है कि काम की स्वच्छन्दता का युग किसी देश में अराजकता का युग लाता है ।

राम की चारित्रिक विशेषताओं में यह कहा गया है कि वे अर्थ और धर्म का संग्रह (पालन) करते हुए तदनुकूल काम का सेवन करते थे । इसलिए आलस्य कभी उनके पास नहीं आता था ।[3] अर्थ और धर्म से रहित होने पर काम पुरुषार्थ नहीं होता, अपितु व्यसन हो जाता है, आलस्य आदि दुर्गुणों को ले आता है । मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है । गीता में कृष्ण ने काम सेवन के इस दुर्बल पक्ष पर प्रकाश डाला है कि विषयों पर ध्यान रखने से मनुष्यों को उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम उत्पन्न होता है, काम क्रोध को जन्म देता है, क्रोध से सम्मोह होता है । इसके अनन्तर स्मृतिभ्रंश जन्म लेता है । तब बुद्धि का नाश होता है और अन्ततः सर्वनाश हो जाता है ।[4]

१- भगवद्‌गीता २/६२ । संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।

२- डा० बेन्जामिन वान की उक्त पुस्तक, पृ० ५५ ।

३- रामायण २/१/२० । अर्थ धर्मौ च संगृह्य सुखतंत्रो न चालसः ।

४- गीता २/६२-६३ ।

काम का सेवन अर्थात् जीवन के सुखों का उपभोग अर्थ के बिना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने भी तीन पुरुषार्थों में अर्थ को महत्ता दी है क्योंकि इसी पर धर्म और काम की प्राप्ति निर्भर है, किन्तु वाल्मीकि धर्मशास्त्रकारों के समान त्रिवर्ग में धर्म को ही श्रेष्ठ स्थान देते हैं। कोई भी अर्थ नैतिक समर्थन के बिना समुचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार धर्म के प्रतिकूल काम भी ठीक नहीं। कृष्ण ने भी अपने को धर्म के अनुकूल काम के रूप में दिखाया है।[1] वाल्मीकि ने कई स्थलों पर काम को धर्म और अर्थ से अनुप्राणित किये जाने का परामर्श दिया है। राम ने सुग्रीव को यह कहा था कि जो व्यक्ति धर्म और अर्थ का परित्याग करके केवल काम का सेवन करता है, वह किसी वृक्ष की अगली शाखा पर सोये हुए मनुष्य के समान है। वृक्ष से गिरने पर ही उसकी आँखें खुलती हैं --

हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।[2]

इसी प्रसंग में राम धर्म, अर्थ और काम -- इन तीनों का समुचित काल में सेवन करना राजा के लिए समुचित बतलाते हैं। इसलिए तीनों पुरुषार्थों के लिए समय का विभाजन आवश्यक है।

यद्यपि त्रिवर्ग की सूची में काम का स्थान सबसे नीचे है किन्तु वाल्मीकि अन्य ऋषियों के समान काम के कठोर नियंत्रण का उपदेश नहीं देते। वे निवृत्तिमार्गी संन्यासियों का मार्ग नहीं बतलाते। वे यह समझते हैं कि धर्म और काम में कभी संघर्ष

१- गीता ७/११। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

२- रामायण ४/३८/२१-२२।

की स्थिति भी आ सकती है । उस स्थिति में काम का दमन बुद्धि, तपस्या और विक्रम (दृढ़ कथा शक्ति) से किया जा सकता है । समुचित मार्ग का चयन बुद्धिपूर्वक होना चाहिए, न कि काम से पलायन द्वारा । रावण ऐसे संघर्ष की स्थिति में ही सभासदों के समक्ष कहता है कि आप लोग धर्म, अर्थ और काम के विषय में संकट उपस्थित होने पर प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, लाभ-हानि और हित-अहित का विचार करने में समर्थ हैं ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि राजनीति में धर्म, अर्थ और काम विषयक संकट का निवारण कभी-कभी दूसरे लोगों से परामर्श द्वारा भी किया जाता था, केवल स्वयं विचार के द्वारा ही नहीं।

अर्थ

धर्म के आदर्श में अर्थ का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है । वाल्मीकि के रामायण में अर्थ का वर्णन धन और प्रयोजन की सिद्धि दोनों रूपों में किया गया है । अरण्यकाण्ड में स्वर्णमृग को देखकर राम-लक्ष्मण को जहाँ समझाते हैं वहाँ धन और कोश के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अर्थ की परिभाषा देते हैं । वह इस प्रकार है --

अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन् ।

तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याः सुलक्ष्मण ॥[2]

अर्थी मनुष्य जिस अर्थ (प्रयोजन) का सम्पादन करने के लिए उसके प्रति आकृष्ट हो बिना विचारे ही चल देता है, उस अत्यन्त आवश्यक प्रयोजन को ही अर्थसाधन में चतुर एवं अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् "अर्थ" कहते हैं ।

इस दृष्टि से अर्थ अपने वास्तविक रूप में बिना विचारे उपार्जित किया जाता

१- रामायण ६/१२/७ ।
२- वही ३/४३/३४ ।

शोभा कुमारी

है । दैनिक जीवन में अर्थ प्राप्ति को लक्ष्य बनानेवाला व्यक्तित्व साधनों पर विचार नहीं करता । वह केवल धन रूप लक्ष्य को ही ध्यान में रखता है । धर्म से अनुप्राणित होने पर यह अर्थ समुचित पुरुषार्थ कहा जाता है ।

अर्थ को काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है, क्योंकि काम धर्म का साधक नहीं है केवल बाधक है । यह बात दूसरी है कि सन्तानोत्पादन रूप धर्म की सिद्धि के लिए काम यत्र-तत्र सहायक है । दूसरी ओर, अर्थ तो धर्म का पग-पग पर सहायक है । इसलिए धर्मों को अर्थ साध्य तथा अर्थ निरपेक्ष इन दो वर्गों में बाँटा गया है । दान, यज्ञ आदि क्रियाएँ जो धर्म उत्पन्न करती हैं या धर्म के रूप में हैं, अर्थ के अभाव में अनुष्ठित नहीं हो सकती । दूसरी ओर, शरीर को क्लेश देकर प्राप्त किया जानेवाला अर्थनिरपेक्ष धर्म भी होता है । वन में निवास करनेवाले राम के विषय में यह कहा गया है कि जिनके लिए शास्त्रोक्त यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा धर्म का संग्रह करना उचित है (अर्थात् अर्थ-साध्य धर्म ही जो कर सकते हैं), वे राम इस समय शरीर को कष्ट देने से प्राप्त होनेवाले धर्म का अनुसंधान करा रहे हैं ।[1] काम के समान अर्थ का भी एक साधन के रूप में महत्त्व है । यह जीवन के स्वाधीन विकास की प्राप्ति का साधक है । किन्तु अर्थ का दुरुपयोग घातक है । समाज मनुष्य को इसलिए सम्पत्ति देता है कि वह अपने व्यक्तिगत विकास में सहायता ले सके, तथा अपने को समझ सके ।

१- रामायण २/९९/३४ ।

यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः ।

शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥

शोभा कुमारी

रामायण में राम और लक्ष्मण के बीच अर्थ के प्रश्न को लेकर युद्धकाण्ड में एक रोचक विवाद प्रस्तुत किया गया है। राम आरम्भ से ही धर्म के पक्षधर हैं जैसा कि जाबालि के साथ उनके संवाद में प्रकट होता है। किन्तु लक्ष्मण अर्थ का महत्त्व समझाते हुए धर्म की निन्दा करते हैं। राम से वे स्पष्ट कहते हैं कि धर्म के मूलभूत अर्थ का ही आपने राज्य-त्याग के साथ-साथ उच्छेद कर दिया।[1] जैसे पर्वतों से नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार जहाँ-तहाँ से संग्रह करके लाये गये और बढ़े हुए धर्म से सारी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। जो मन्दबुद्धि अर्थ से वंचित है उसकी समस्त क्रियाएँ उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाती हैं जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में छोटी नदियाँ सूख जाती हैं। सुख में पला हुआ पुरुष यदि प्राप्त अर्थ को त्याग देता है और पुनः सुख चाहता है तो उस अभीष्ट सुख के लिए उसे अन्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करना पड़ता है। उस स्थिति में उसका अर्थ दूषित होता है।[2] इसके बाद लक्ष्मण नीतिशास्त्रकारों के समान अर्थ की महत्ता बतलाते हैं कि धन से ही मित्र, बन्धु, विद्या और गौरव मिलते हैं। जिसके पास धनराशि है वही पराक्रमी, बुद्धिमान, भाग्यशाली और गुणी कहलाता है। धन के कारण ही धर्म और काम की सिद्धि होती है। निर्धन व्यक्ति बिना पुरुषार्थ के अर्थ चाहने पर भी उसे नहीं पा सकते। धन होने पर ही हर्ष, काम, दर्प, धर्म, क्रोध, शम और दम --ये सफल होते हैं। धर्मचारी और तपस्वी लोगों का यह लोक अर्थभाव में नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार लक्ष्मण ने धर्म से बढ़कर अर्थ की महत्ता दिखायी है।[3] वे आवेश में यहाँ तक कहते हैं कि धर्म संकटों से बचा नहीं सकता, इसलिए वह निरर्थक है।

१- रामायण ६/८३/११।

२- वही ६/८३/१२-३४।

३- वही ६/८३/३५-४०।

कुछ आधुनिक विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि लक्ष्मण के द्वारा जो धर्म से बढ़कर अर्थ को प्रतिपादन हुआ है उसका खण्डन न होने के कारण वाल्मीकि का यह मत प्रतीत होता है कि वे नैतिक मूल्यों को ऊँचा स्थान देते हैं ।[1] किन्तु यह बात गलत है कि लक्ष्मण की उक्तियों में चार्वाक के तर्क हैं तथा वे क्षणिक आवेश से अनुप्राणित हैं । कोई व्यक्ति कष्ट सहते-सहते खिन्न होकर ऐसे विचार दे सकता है । अतः लक्ष्मण की बातों को काव्य की दृष्टि से देखना चाहिए । वाल्मीकि ने पात्रों में स्वाभाविकता का आधान करने के लिए ऐसी बातें लक्ष्मण से कहलवायी हैं । लक्ष्मण की उक्तियाँ धर्म के तात्कालिक पतन को देखकर प्रवृत्त हुई हैं । लक्ष्मण का उद्देश्य यही है कि धर्म से जब अर्थ की प्राप्ति अर्थात् प्रयोजन सिद्धि नहीं होती तब अधर्म का आश्रय लेने में कोई आपत्ति नहीं । मनुष्य को परिस्थिति देखकर धर्म और अधर्म दोनों की सहायता लेनी चाहिए । जो धर्म मनुष्य को अर्थ से च्युत कर दे, भीरु बना दे, पलायनवादी कर दे, वह धर्म त्याज्य है । लक्ष्मण एक व्यावहारिक विचारधारा के प्रकाशक हैं । वे नैतिक और सामाजिक मूल्यों में विश्वास करते हुए भी धर्म की पलायनवादी प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं । उन्होंने निश्चित रूप से पिता, माता और गुरु की आज्ञा मानने का समर्थन किया है, किन्तु जहाँ ये आज्ञाएँ अविचारित, छल से युक्त या अन्यायपूर्ण रही हों, उनका अतिक्रमण करना वे आवश्यक समझते हैं । ऐसे माता-पिता या आचार्य का वध करना वे उचित समझते हैं। वे भ्रातृप्रेम में आस्था रखते हैं, किन्तु जब एक भाई दूसरे भाई का जीवन नष्ट कर रहा हो तो ऐसे क्रूर भाई को मारने का भी विचार रखते हैं । इस प्रकार लक्ष्मण की उक्तियों में आवेश तो है ही, व्यावहारिक सामाजिक मूल्यों के प्रति निष्ठा है । इसे हम सामान्य

१- डा० बेन्जामिन खान की उक्त पुस्तक, पृ० ६० ।

व्यक्ति का दर्शन कह सकते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म की प्राप्ति में अर्थ सहायक है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसे शास्त्रानुकूल होना चाहिए, अन्यथा केवल अर्थ का चिन्तन अविवेकपूर्ण करने से व्यक्ति का नाश हो सकता है । वाल्मीकि ने किसी निश्चित अपरिवर्तनीय धर्म की कल्पना नहीं की है । मानव की अन्तरात्मा और बुद्धि ही यह विचार करती है कि क्या उचित है और क्या अनुचित है । यह विचार भी धर्म का आधार है ।

धर्म का स्रोत

रामायण में धर्म को शास्त्रों की अनुकूलता तथा मनुष्य की अन्तः प्रेरणा दोनों रूपों में देखा गया है । भरत जब राम को राज्य-ग्रहण करने के लिए कहते हैं कि क्षत्रिय के लिए पहला धर्म यही है कि उसका राज्य पर अभिषेक हो, तब वे निश्चित रूप से शास्त्रानुकूल धर्म का प्रतिपादन करते हैं । दूसरी ओर, वे सुख के लक्ष्य से रहित सक्रिय में फल देनेवाले अनिश्चित धर्म की बात करते हैं तो यहाँ निवृत्तिपरक धर्म का तात्पर्य है । क्षत्रियों का धर्म निवृत्तिपरक नहीं होता । इस बात पर वे विशेष बल देते हैं ।[1] वाल्मीकि वर्ण-धर्म की आलोचना राम से कराते हैं । राम कहते हैं कि सत्य रूपी धर्म सभी प्राणियों के लिए हितकर है । क्षत्रियों का धर्म तो वस्तुतः धर्म के वेश में अधर्म है जिसका नीच, क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषों ने सेवन किया है ।[2] यह धर्म राम को स्वीकार्य नहीं है ।

वाल्मीकि धर्म को शास्त्रानुकूल के अतिरिक्त अन्तः प्रेरणा से अनुप्राणित तत्त्व

१- रामायण २/१०६/१८-२० ।
२- वही २/१०९/२० ।

के रूप में भी देखते हैं। इसका उदाहरण हनुमान द्वारा लंकापुरी में रावण की स्त्रियों को देखे जाने के समय मिलता है। हनुमान इस चिन्ता में हैं कि रावण के राजप्रासाद में जहाँ-तहाँ सोयी हुई, नंगी-अधनंगी स्त्रियों को देखने के कारण मुझे पाप लगा है।[1] किन्तु वे पुनः एक दूसरे विचार पर आरूढ़ होते हैं। वे सोचते हैं कि रावण की स्त्रियाँ निःशंक हो सो रही थीं। इसी अवस्था में मैंने उन सबों को अच्छी तरह देखा है तथापि मेरे मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ। इन्द्रियों को शुभ-अशुभ अवस्थाओं में प्रवृत्त करने का कारण मन ही होता है और मेरा वह मन सुव्यवस्थित है।[2] मन में कहीं राग-द्वेष न होने से धर्म के लोप का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे यह सिद्ध होता है कि मनःस्थिति भी धर्म के प्रवर्तन में हेतु है। यदि कोई शास्त्रानुकूल कार्य भी बिना इच्छा के, अन्यमनस्क होकर कर रहा है तो उसे धर्म नहीं मिल सकता। दूसरी ओर, यदि शास्त्र प्रतिकूल कार्य भी किसी के हित की कामना से किया जा रहा है तो वह धर्म का हेतु है - यह वाल्मीकि की मान्यता प्रतीत होती है। इसीलिए हनुमान कहते हैं कि मैंने शुद्ध मन से सीता का अन्वेषण राम के अन्तःपुर में किया है। मुझे पाप नहीं लगेगा।
इस प्रकार धार्मिक जीवन का आधार मनःशुद्धि है, शरीर की शुद्धि या शास्त्र की अनुकूलता
नहीं। वाल्मीकि के अनुसार धर्म के अन्तर्गत कोई निश्चित कार्य-कलाप नहीं। शास्त्रों के द्वारा
बतलाये गये वर्ण-धर्म को कोई व्यक्ति उत्कृष्टतर शुभ उद्देश्य से छोड़ देता है तो इसमें
कोई आपत्ति नहीं। मानव किसी भी आश्रम में हो, किसी भी परिस्थिति में हो, वह सत्कर्म
करे यही धर्म है। वर्ण-धर्म या आश्रम-धर्म का स्थान गौण है। इस विषय में वाल्मीकि की
स्पष्ट मान्यता है कि धर्म अन्तःप्रेरणा की भी चीज है। यह अन्तःप्रेरणा समय-समय पर

१- रामायण ५/११/३८ ।

२- वही ५/११/४२ ।

परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है जबकि बाह्य धर्म सदा एक ही रहते हैं । उन बाह्य धर्मों को छोड़ने का उपदेश वाल्मीकि अवश्य देते हैं ।

धर्म और नैतिक मूल्य

वाल्मीकीय रामायण में नैतिक गुणों को धर्म का अविभाज्य अंग माना गया है । इन पर इस ग्रन्थ में इतना बल दिया गया है कि वस्तुतः यह ग्रन्थ नीतिपरक काव्य ही कहा जा सकता है । इसमें अनेक नैतिक गुणों का प्रतिपादन किया गया है जिनका उपादान लोग अपने जीवन में करें । तदनुसार प्राणी मात्र के प्रति दया, सत्यवादिता, आत्म-संयम, क्षमा, अतिथि-सेवा, शरणागत वत्सलता, मन, वचन और कर्म की शुद्धि -- ये अत्यधिक प्रशंसित नैतिक गुण हैं ।[1] माता-पिता, आचार्य, अग्रज, पति, स्वामी के प्रति श्रद्धाभाव तथा स्नेहयुक्त सम्मान की चर्चा रामायण में बार-बार हुई है । स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए एक विवाह व्रत एवं पवित्रता को सर्वोच्च गुण कहा गया है ।[2] स्त्रियों को चूँकि पिता, पति और पुत्र पर आश्रित रहना पड़ता है इसलिए उन्हें सभी स्थितियों में स्नेह और दया का पात्र समझना चाहिए । स्त्री की हत्या घोर पाप मानी गयी थी । स्त्रियों के लिए उनका चरित्र ही सबसे बड़ा धन माना गया है । एक पतिव्रता स्त्री किसी तपस्वी से कम सम्मान नहीं पाती ।

इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण में राजा का सम्मान भी एक धर्म बतलाया गया है । वह मनुष्य रूप में देवता है । वह धर्म का रक्षक है । किन्तु यदि वह अपने कर्तव्यों

१- रामायण २/३३/१२ तथा २/१०८/३१ ।

२- वही २/६४/४३(एक पत्नीव्रतस्य च) २/२८/१६, २/११०/२४ ।

का पालन ठीक से नहीं करता तो वह अधर्मचारी है ।[1] दण्डनीय पुरुष को दण्ड देनेवाला राजा और उचित दण्ड पानेवाला अपराधी दोनों समान रूप से कृतार्थ होकर स्वर्ग जाते हैं ।[2] जिस व्यक्ति ने प्रथम आक्रमण किया है उस व्यक्ति को मारने में कोई दोष नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन को सुरक्षित रखने का अधिकार है ।[3] किन्तु युद्ध में कभी भी ऐसे शत्रु को मारना नहीं चाहिए जो युद्ध न कर रहा हो, छिपा हुआ हो या अंजलिबद्ध होकर प्राण-याचना कर रहा हो ।[4] इसी प्रकार दूत , स्त्री, बालक, वृद्ध आदि की हत्या को बहुत बड़ा अपराध कहा गया है ।

धर्माचरण को रामायण में अनेक स्थानों पर बहुत महत्त्व दिया गया है, किन्तु अनैतिक कार्य करनेवाले या आवेश में आये हुए व्यक्तियों के द्वारा धर्माचरण की निन्दा भी की गयी है । उदाहरण के लिए कृत्रिम सीता का वध करते हुए इन्द्रजित कहता है अरे वानर तुम जो यह कहते हो कि स्त्रियों को मारना नहीं चाहिए उसके उत्तर में मुझे यह कहना है कि जिस कार्य के करने से शत्रुओं को अधिक कष्ट पहुँचे वह कर्त्तव्य ही माना गया है ।[5] इसी प्रकार समुद्र के व्यवहार से अपमानित होकर राम भी कहते हैं कि जो व्यक्ति अपनी प्रशंसा करता है, दुष्ट है, धृष्ट है, सर्वत्र निर्लज्ज होकर आक्रमण करता है और अच्छे बुरे सब पर दण्ड प्रयोग करता है, उसी व्यक्ति का सत्कार लोग करते हैं ।[6] इसी प्रकार के आवेश में यह भी कहते हैं कि संसार में अकृतज्ञों के प्रति दण्डनीति

१- रामायण ३/६/११ । २- वही ४/१८/६१ । ३- वही २/९६/२४ तथा ६/९/१४ ।
४- वही ६/८०/३९ ।
५- रामायण ६/८१/२८ । न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवंगम ।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत् ॥

६- वही ६/२१/१५-१६ ।

का प्रयोग ही सबसे बड़ा अर्थसाधक है --ऐसा मेरा विश्वास होता है । ऐसे लोगों के प्रति क्षमा, सान्त्वना या साननीति के प्रयोग को धिक्कार है ।[1] ऐसी उक्तियों को बहुत गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए क्योंकि ये क्षणिक आवेश में प्रकाशित हुई हैं ।

रामायण में धर्म के मानदण्डों को निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है --

(१) परलोक का विचार -- उन कार्यों को धार्मिक कहा जाता है, जिनसे परलोक बने अर्थात् मृत्यु के अनन्तर उत्तम लोकों की प्राप्ति हो । इनके विपरीत कर्म अधर्म कहे जाते हैं ।

(२) बड़े लोगों का सम्मान -- ऐसे कर्मों को धार्मिक कहा जाता है, जिनसे माता-पिता, गुरु आदि को प्रसन्नता हो । इसके विपरीत आचरण अधर्म है ।

(३) दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर प्रभाव -- हमारे जिन कर्मों से दूसरे व्यक्तियों का आचरण उत्कृष्ट होता हो वे धर्म हैं, प्रायः बड़े लोगों का अनुकरण छोटे लोग करते हैं । इस लिए बड़े लोगों को इस दृष्टिकोण से कार्य करना चाहिए कि छोटे लोगों पर इसका दुष्प्रभाव न पड़े ।

(४) अपनी अन्तः प्रेरणा तथा आत्मसम्मान -- अन्तः प्रेरणा से किया गया कार्य तथा आत्मसम्मान के लिए किया गया कार्य भी धर्म है । जिस कार्य के लिए अन्तरात्मा अनुमति न दे, वह कार्य अधर्म है ।

इन सभी मानदण्डों का विश्लेषण राम ने जाबालि के मतों का खण्डन करते हुए किया है ।[2]

१- रामायण ६/२२/४८ ।

२- वही २/१०९ ।

मोक्ष

उपनिषदों में जहाँ संसार को बन्धन बतलाते हुए उससे मोक्ष की चर्चा की गयी है, वहाँ वाल्मीकीय रामायण में उसकी पूरी उपेक्षा है । न तो संसार को बन्धन ही बतलाया गया है और न इस बन्धन को काटकर परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के प्रति किसी की प्रवृत्ति ही दिखायी गयी है । इस दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण को प्रवृत्तिमार्गी दर्शन का प्रचारक कह सकते हैं । जीवन आनन्दरूप है, आपत्तियाँ इसमें अवश्य हैं, किन्तु उन्हें दुःख कहकर उनसे पलायन करना नहीं है ।

फिर भी संन्यास धर्म की बातें वातावरण में अवश्य पायी जाती हैं । प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति अपने व्यवहार में, अपनी बातों में संन्यास या वैराग्य की प्रवृत्ति अवश्य दिखाता है । तापस और श्रमण की चर्चा रामायण में अनेक बार हुई है ।[1] इसी प्रकार भिक्षु और भिक्षुणी का उल्लेख भी रामायण में मिलता है । सामान्य भौतिक सुखों के लिए तो तपस्या की ही जाती थी, इसके अतिरिक्त कुछ अधिक उत्कृष्ट लक्ष्य रखकर भी लोग तपस्या करते थे । इस प्रक्रिया में समस्त आसक्तियों का त्याग कर इन्द्रियों पर नियंत्रण रखते हुए सभी प्राणियों के प्रति दया भाव रखा जाता था ।[2] दण्डकारण्य में ऋषि, मुनियों की तपस्या किसी पार्थिव उद्देश्य से नहीं, अपितु किसी लोकोत्तर लक्ष्य के लिए ही होती थी । यद्यपि मोक्ष का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, किन्तु जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सूत्रों से यही पता लगता है कि वे तपस्वी इस मोक्ष के लिए ही तपस्या करते थे । इनके लक्ष्य का निर्देश एक भ्रामक शब्द "ब्रह्मलोक" के रूप में किया गया है ।[3] यह ब्रह्मलोक ब्रह्म की प्राप्ति या

१- रामायण १/१४/१२, २/२८/११, २/३८/४, ४/१८/३३ इत्यादि ।
२-वही २/९९/१२,१६, ३/१/१५।
३- वही १/३३/१६, २/१९/३३ ।

ब्रह्मा के लोक -- इन तीनों अर्थों का द्योतक है । वैराग्य की अन्तिम सीढ़ी भौतिक सुखों के आत्यन्तिक परित्याग तथा आत्मा में अव्यवहित ध्यान लगाने के रूप में होती थी । वाल्मीकि ने अन्तःकरण के द्वारा परमात्मा के ध्यान की चर्चा की है ।[1]

इस प्रकार रामायणकालीन पुरुषार्थ की कल्पना में मोक्ष की साक्षात् चर्चा न होते हुए भी परोक्ष संकेत मिलते हैं ।

:
:::::
:::
:::
::::
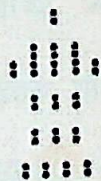
१- रामायण २/६५/ २३ ।

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ।

भावयन्नात्मनात्मानं यत्र सायंगृहो मुनिः ॥

अध्याय ६
:-:-:-:-:-:-:-:

रामायण में धर्म-दर्शन

अलौकिक सत्ता में विश्वास -- धर्म के तीन स्कन्ध -- देवों पर आस्था -- धार्मिक क्रिया-कलाप के विभिन्न प्रकार -- वास्तु शान्ति, आग्रयण पूजा, स्वस्त्ययन, दैनिक कृत्य, अग्निहोत्र, संध्योपासना, देव-पूजा, देवमंदिर -- मूर्ति-पूजा -- यज्ञों की स्थिति -- दान की महिमा -- तीर्थ-यात्रा -- गौ का महत्त्व -- नदी-पूजा -- शैवमत तथा वैष्णव धर्म -- देवताओं में मानव-भाव -- दुष्ट तत्वों की पूजा -- पितृ-पूजा -- शकुन में विश्वास -- वैराग्य का वातावरण ।

:":

विगत अध्याय में पुरुषार्थ-विशेष के रूप में धर्म की चर्चा की गयी है । यहाँ वाल्मीकीय रामायण में निहित धार्मिक जीवन तथा उसके दर्शन की मीमांसा की जाती है । जैसा कि कहा जा चुका है "धर्म" शब्द व्यापक अर्थ रखता है । यह अनेक परिवर्तनों और विपर्ययों के चक्र में घूम चुका है । मानव के कर्तव्य से लेकर उसके परम शक्ति विषयक विश्वासों तक धर्म के अर्थ की व्याप्ति है । प्रस्तुत अध्याय में धर्म का वह अर्थ लिया जा रहा है जो अंग्रेजी में "रिलिजन" से प्रकट होता है । अंग्रेजी शब्दकोशकारों के अनुसार एक अतिमानव, अदृष्ट, नियामक शक्ति में विश्वास या उसकी स्वीकृति को धर्म कहा जाता है । उस शक्ति में मानव की भावना और नैतिकता भी निहित होती है । इसी प्रकार उपासना के प्रकार या अनुष्ठान को भी धर्म कहा जाता है । इसी क्रम में ऐसे विश्वास से सम्बद्ध सम्प्रदाय-विशेष को भी धर्म कहते हैं[1], जैसे -- वैष्णवधर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म इत्यादि । जब दार्शनिक लोग धर्म-दर्शन की चर्चा करते हैं तब धर्म का यही अर्थ लिया जाता है । इसी से धार्मिक उपासना , धार्मिक चेतना, धार्मिक सम्प्रदाय इत्यादि अभिव्यक्तियों का उद्‌गम होता है ।

भारतीयों का जीवन इसी अर्थ में धार्मिक कहा गया है । वे सदा से किसी लोकोत्तर अतिमानव सत्ता में विश्वास करते हैं, वह सत्ता संसार का नियंत्रण करती है और उसी के नियंत्रण में जगत् की सारी नैतिकता चलती है । उस अतिमानव शक्ति को

1- चेम्बर्स कान्साइज इंगलिश डिक्शनरी (१९५४, पृ० ५३५)।

प्रसन्न करने के लिए मनुष्य प्रतीक रूप से अनेक अनुष्ठान, व्रत, पूजा-पाठ आदि करता है । यदि मनुष्य को ज्ञात हो जाए कि वह लोकोत्तर शक्ति किसी कारण से रुष्ट हो गयी है तो उसे विश्वास होता है कि संसार में घोर उपद्रव होंगे, प्राकृतिक संकट आयेंगे, भूकम्प, बाढ़ आदि उपद्रव उससे होंगे । ऐसी स्थिति में मनुष्य यज्ञ-याग आदि कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है ।

ऋग्वेद-संहिता में उस अति मानव तत्त्व को पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि कहा गया है । उसे संसार का राजा कहा गया है । सभी पर्वत, सागर, नदियाँ और दिशाएँ उसी के आदेश पर चलती हैं ।[1] उसे प्रजापति कहा गया है । यह लोकोत्तर शक्ति कहीं-कहीं स्वयं वाणी के रूप में मुखरित हुई है । तदनुसार वह शक्ति कहती है कि मैं सभी देवताओं को धारण करती हूँ, सभी प्राणियों को भोजन देती हूँ , सब मेरे ही अधिकार में हैं ।[2]

वैदिक-काल से प्रवाहित होनेवाली इसी धार्मिक चेतना में संस्कृत-वाङ्मय का अधिकांश भाग निमग्न है । इसलिए प्रायः आधुनिक आलोचक संस्कृत-साहित्य पर आक्षेप करते हैं कि इसमें धार्मिक विषयों का ही वर्णन है, धर्मेतर विषय शून्य प्राय हैं । वस्तुतः भारतवासियों का जीवन-दर्शन धार्मिक विश्वासों से ही अनुप्राणित रहा है । यदि सामान्य भारतीय के जीवन की कोई विशेषता है तो वह एकमात्र धार्मिकता ही है । इससे धर्म का भारतीय साहित्य में महत्त्व समझा जा सकता है । यद्यपि समस्त संस्कृत वाङ्मय और अनुवर्ती भाषा-साहित्य भी एक ही धर्म वैदिक धर्म की चर्चा करते हैं, किन्तु इस वैदिक धर्म

१- ऋग्वेद १०/१२१ ।
२- वही १०/१२५ ।

में भी अनेक सम्प्रदाय हो गये थे जिनकी उपासना-पद्धति तथा धार्मिक विश्वास में कहीं-कहीं अल्प रूप में किन्तु कहीं-कहीं पर्याप्त अन्तर था । यही कारण है कि वैष्णव, शाक्त, शैव आदि धार्मिक सम्प्रदाय भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुए । उन सबों के अपने-अपने दर्शन और अपने-अपने आगम ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं ।

छान्दोग्योपनिषत् में धर्म के तीन स्कन्धों की चर्चा है, जो सम्भवतः प्राचीन भारतीय धार्मिक जीवन के आधार-स्तम्भ थे । उसमें कहा गया है कि धर्म का पहला स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन और दान है । दूसरा स्कन्ध है --तपस्या जिसमें कष्ट-सहिष्णुता निहित है। तीसरा स्कन्ध आचार्यकुल है, जहाँ ब्रह्मचारी अपने को क्षीण कर देता है । ये तीनों धर्म स्कन्ध पुण्यप्रद हैं ।[1] ये तीनों स्कन्ध वस्तुतः धार्मिक विश्वास के प्रतिफलन ही हैं । प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय अपनी पद्धति के अनुसार इन तीनों स्कन्धों का विधान करता है अर्थात् उसकी अपनी उपासना पद्धति है, तपस्या के अपने सिद्धान्त हैं और अध्ययन-अध्यापन के अपने नियम हैं ।

वेदों के आधार पर प्रचलित धर्म को सामान्य रूप से वैदिक धर्म कहा गया है । वेदों के प्रति आस्था से अभिभूत होकर लोग कहते थे कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो तत्व अग्राह्य हैं, वे वेदों के द्वारा सुगमतापूर्वक जाने जाते हैं ।[2] लौकिक वस्तुओं का साक्षात्कार तो आँखों से होता है, किन्तु अलौकिक तत्वों का रहस्य वेद ही बतलाते

१- छा० उ० २. २३.१ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः । तप एव द्वितीयः । ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी, तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ।

२- सायण, तैत्तिरीय संहिता भाष्य की भूमिका, पृ० २ ।
प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते । एत विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।

हैं। मनु ने इसलिए पितरों, देवताओं और मनुष्यों का सनातन चक्षु वेदों को माना है। वेदों से ही चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीन लोक और तीन काल सिद्ध होते हैं।[1] इसलिए वेदों को धर्म का परम स्रोत कहा गया था।

वाल्मीकीय रामायण का युग यद्यपि भौतिक वैभव, समृद्धि, कला और विकास का युग था, फिर भी उसमें धर्म की अन्तर्हित शक्ति पद-पद पर प्रगट होती है। आदि कवि ने लोगों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण और क्रियाकलापों को यथेष्ट रूप में अंकित किया है। वाल्मीकि के युग में भी वेदों को धर्म का अक्षय स्रोत माना जाता था। जिस प्रकार मनु ने कहा है कि तर्कशास्त्र के आधार पर वेद का तिरस्कार करनेवाला व्यक्ति समाज से बहिष्कृत किया जाना चाहिए,[2] उसी प्रकार वाल्मीकि ने भी कहा है कि न्याय के हेतु आदि से सनातन वेदश्रुति को कोई अन्यथा नहीं कर सकता।[3] इससे रामायणकालीन सामान्य मानव की वेदों के प्रति परम्परागत गहन आस्था का पता लगता है। वैदिक युग से जो कर्मकाण्ड चला आ रहा था उसका अनुसरण रामायण-काल में भी यथावत् किया जाता था। किसी अनुष्ठान का मानदण्ड वैदिक मंत्रों के साथ उसका सम्पादन ही था। वाल्मीकि ने यत्र-तत्र धार्मिक अनुष्ठानों के सन्दर्भ में निम्नलिखित अभिव्यक्तियाँ की हैं -- यथाविधिः यथाशास्त्रम्, शास्त्रदृष्टेन विधिना। यहाँ तक कि राम रावण को मारने के लिए जब धनुष पर बाण रखते हैं, तो वहाँ भी उसे वे वेदोक्त विधि से अभिमंत्रित करते दिखाये गये हैं। शास्त्र शब्द का प्रयोग वाल्मीकि ने सर्वत्र वेदों के अर्थ में किया है। शास्त्रानुकूल बुद्धि होना गौरव की बात समझी जाती थी और यदि बुद्धि शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन

१- मनुस्मृति १२/९४ तथा ९०।

२- वही २/११। योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

३- रामायण २/५०/२२।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

शोभा कुमारी

करती थी तो वह गर्हणीय थी ।

धार्मिक क्रिया-कलाप के प्रकार

वाल्मीकीय रामायब में जहाँ सम्पूर्ण जीवन-दर्शन चित्रित है, धार्मिक अनुष्ठानों का वैचित्र्य भी दिखाया गया है । किसी भी कार्य के आरम्भ में या समाप्ति के समय धार्मिक अनुष्ठान होते थे । देवताओं की पूजा, हवन, मंत्र-पाठ, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा, दान, बड़े लोगों का आशीर्वाद आदि तात्कालिक धार्मिक क्रिया-कलापों के महत्वपूर्ण अंग थे। विभिन्न स्थलों पर अवसर के अनुसार वाल्मीकि ने उनका वर्णन किया है । यहाँ कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों का महत्त्व और विनियोग दिखलाया जाता है ।

वास्तु शान्ति

वास्तु शान्ति का अर्थ है -- नये गृह में प्रवेश करने के पूर्व उस गृह के अधिष्ठाता देवता को प्रसन्न करना, यह विश्वास था कि गृह में देवता का निवास होता है, उन्हें प्रसन्न करने से अशुभ शक्तियों का शमन होता है, विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं और गृह-स्वामी की आयु बढ़ती है । इसलिए राम चित्रकूट में पर्णशाला का निर्माण करने के समय उसकी वास्तु शान्ति करते हैं । वे लक्ष्मण से कहते हैं कि ऐणेय मांस (काले मृग का मांस) का उपहार देकर हमलोग पर्णशाला के अधिष्ठाता देवताओं की पूजा करेंगे क्योंकि दीर्घ जीवन की इच्छा करने वाले पुरुषों को वास्तु शान्ति अवश्य करनी चाहिए ।[1] राम लक्ष्मण से आगे कहते हैं कि शीघ्र मृग मार कर ले आओ क्योंकि शास्त्रोक्त

१- रामायण २/५६/२२। ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् ।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥

यद्यपि गीता प्रेस से प्रकाशित रामायण के हिन्दी अनुवाद में "ऐणेय मांस" का अर्थ

विधि का अनुष्ठान हमारे लिए अजय कर्तव्य है । लक्ष्मण ने कृष्ण मृग को मार कर उसका मांस अग्नि में पकाया तथा और तब राम ने स्नानादि करके मंत्रों का पाठ और जप किया। उन्होंने पुनः बलि वैश्य दैव-कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णवयाग करके वास्तुदोष की शान्ति के लिए मंगल-पाठ किया । अपनी छोटी सी कुटी के अनुरूप ही उन्होंने देवस्थलों (आठ दिक्पालों के लिए बलि समर्पण के स्थानों), चैत्यों (गणपति, विष्णु आदि के स्थानों) तथा आयतनों का निर्माण एवं स्थापना की । तात्पर्य यह था कि राम ने जो पर्ण-शाला बनायी उसमें उन्होंने एक आदर्श गृहस्थ के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने के लिए विविध धार्मिक स्थलों का निर्माण किया । राम ने वास्तु शान्ति के सभी विधानों को यथाशास्त्र सम्पन्न करके ही अपनी पर्णशाला में प्रवेश किया ।[1]

वास्तु शान्ति की समस्त क्रिया का एक दार्शनिक अभिप्राय होता है कि हिन्दू गृहस्थ अपने आवास को बाँसों, पत्तों, मिट्टी और कपड़े का निर्जीव ढाँचा मात्र नहीं समझता, अपितु उसे परिवार के सदस्य के अतिरिक्त पूज्य, देवताओं, पितरों एवं अन्य प्राणियों का भी निवास स्थान मानता है । गृह के ये समस्त अधिष्ठाता देवता वहाँ अग्नि की छत्रछाया में रहते हैं, अग्नि के माध्यम से इन सबों की उपासना दैनिक रूप से की जाती है । गृह-प्रवेश के समय इन अतिमानव शक्तियों को यथोचित स्थान अपने गृह में दिया जाता है और पुनः उनकी दैनिक उपासना की जाती है । वैदिक युग में ही देवताओं को मनुष्य के सहयोगी और संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया था वह कल्पना वाल्मीकीय रामायण में भी अव्याहत रूप से प्राप्त होती है ।

गजकन्द का गूदा" किया गया है किन्तु यह आगे के प्रसंगों से असंगत है ।

1- रामायण २/५६/२२-३३ ।

आग्रयण-पूजा [1]

आर्य जातियों में प्रकृति-पूजा की भी प्रथा वर्तमान थी । इसमें नये अन्न के प्रथम अन्न को देवताओं और पितरों को दिया जाता था । शरद् ऋतु के अन्त में जब नयी फसल पक जाती थी तब गृहस्थ लोग आग्रयण कर्म करते थे । इस कर्म में देवताओं और पितरों की पूजा होती थी । आग्रयण कर्म का सम्पादन करनेवाले पुरुष निष्पाप हो जाते थे ।[2] श्रौत-सूत्रों में इस कर्म को आग्रयणेष्टि कहते हैं । रामायण में प्राप्त अल्प सूचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि नवान्न ग्रहण करने के पूर्व आर्य लोग देवताओं को उनका भाग अर्पित करते थे क्योंकि उनके प्रसन्न रहने पर ही संसार का भरण-पोषण माना जाता था ।

स्वस्त्ययन

वैदिक कर्मकाण्ड में समस्त धार्मिक क्रियाओं के आरम्भ में कर्म की समाप्ति तथा ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति के लिए स्वस्त्ययन का विधान किया जाता था । विवाह हो, घर से बाहर जाना हो, कोई यज्ञानुष्ठान हो, अथवा गृह-पूजा हो स्वस्त्ययन नाम की क्रिया अवश्य की जाती थी । इसे "स्वस्ति वाचन" भी कहते थे । इस क्रिया में आशीर्वाद देनेवाले लोग मांगलिक वेद-मंत्रों का पाठ करके मंगलाकांक्षी व्यक्ति पर अक्षत फेंकते थे । आज भी

१- पाण्डुरंग वामन काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), भाग १, पृष्ठ ४४३-४४ ।

२- रामायण ३/१६/६ ।

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।

कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥

यह क्रिया पूर्ववत् प्रचलित है । ब्राह्मण लोग "स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्धश्रवाः"[1] इत्यादि मंत्रों को पढ़कर अक्षत द्वारा कार्य की निर्विघ्न समाप्ति का आशीर्वाद देते हैं ।

वाल्मीकीय रामायण में भी इस स्वस्तिवाचन का उल्लेख मिलता है । राजकुमार राम जब विश्वामित्र के साथ जा रहे थे तब उनके माता-पिता ने स्वस्त्ययन किया था तथा पुरोहित वशिष्ठ ने मंगल मंत्रों से उन्हें आशीर्वाद दिया था ।[2] इसी प्रकार जब राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक का दिन आया था तब प्रातःकाल ही राम ने अपने ऋत्विजों से स्वस्तिवाचन कराया था । उस समय राम ने रेशमी वस्त्र धारण किया था, तथा ब्राह्मणों का पुण्याहवाचन से सम्बद्ध गम्भीर एवं मधुर घोष नाना प्रकार की नाद्य ध्वनियों से मिश्रित होकर सम्पूर्ण अयोध्या में फैल गया था ।[3]

राम के वन-प्रस्थान के समय कौशल्या ने उनकी मंगल-कामना के लिए स्वस्ति-वाचन किया था । जिसका वर्णन रामायण के एक पूरे सर्ग में प्राप्त होता है । यह वर्णन वैदिक तथा पौराणिक स्वस्ति वाचन मंत्रों के रूप में है[4]-- "हे राम जिस धर्म का तुम प्रसन्नतापूर्वक पालन करते हो वह तुम्हारी रक्षा करे (धर्मस्त्वामभिरक्षतु)। देवता, महर्षि तुम्हारी रक्षा करें, विश्वामित्र के द्वारा दिये गये सभी अस्त्र-शस्त्र तुम्हारी रक्षा करें, माता-

---

१- ऋग्वेद-संहिता १/८९/६-१०।

२- रामायण १/२२/२ ।

कृतस्वस्त्ययनं मातापित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वशिष्ठेन मंगलैरभिमंत्रितम् ॥

३-रामायण २/६/७-८ ।

४- वही २/२५/३-२५ ।

पिता की सेवा और सत्यपालन से तुम्हारी सुरक्षा हो । समिधा, कुश, वेदियाँ, मन्दिर ब्राह्मणों के पूजास्थल, पर्वत, वृक्ष, पौधे, जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह -- ये सभी वन में तुम्हारी रक्षा करें । साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियों के साथ मरुद्गण तुम्हारा कल्याण करें, धाता-विधाता, पूषा, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें ।'[1] इसी प्रकार कौशल्या ने लोकपाल, ऋतु, मास, श्रुति, स्मृति, धर्म इत्यादि से रक्षा की प्रार्थना करते हुए वन के सभी भयंकर जन्तुओं तथा राक्षसों का भी उल्लेख किया और उनसे राम की रक्षा की प्रार्थना की । इस स्थल में वैदिक स्वस्तिवाचन का लौकिक रूप प्राप्त होता है ।

रामायणकालीन धर्म-दर्शन के विवेचन का यह अद्भुत स्थल है, जहाँ कौशल्या अपने पुत्र की मंगल-कामना के लिए संसार के सभी पदार्थों की प्रार्थना करती है, चाहे वे हानिकारक हों या लाभकारी हों । समस्त भूतमात्र में देव-भावना रखकर यह प्रार्थना की गयी है और प्रायः प्रत्येक श्लोक में स्वस्ति भवन्तु - इस आशय का वाक्य प्रयुक्त हुआ है ।

इस प्रसंग में कौशल्या ने पुष्पमाला, गंध आदि उपचारों से तथा अनुरूप स्तुतियों के द्वारा देवताओं का पूजन भी किया था और अग्नि मंगवा कर एक ब्राह्मण के द्वारा उसमें विधिपूर्वक हवन करवाया था । हवन का उद्देश्य समस्त उपद्रवों की शान्ति एवं आरोग्य माना गया था । अग्नि में हवन करने से बचे हुए हविष्य के द्वारा दसों दिशाओं में इन्द्र आदि लोकपालों के लिए बलि दी जाती थी । इसके अनन्तर प्राचीन कथाओं में निर्दिष्ट मंगल का अतिदेश राम के लिए कई मंत्रों में किया गया था, जैसे --

----

1- रामायण २/२५/८ । स्वस्तिसाध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः ।
स्वस्तिधाता विधाता च स्वस्तिपूषा भगोऽर्यमा ॥

शोध प्रबन्ध--पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

यन्मंगलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।

वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मंगलम् ॥[1]

इसी प्रकार के पाँच श्लोक इस स्थल में लिये गये हैं जिनसे पाँच संख्या की मांगलिकता भी सिद्ध होती है ।

स्वस्तिवाचन के प्रतीक रूप में अक्षत, चन्दन और रोली का सिर पर तिलक लगाना सूचित करता था कि सभी देवता और सभी भूतगण इस प्रतीक से अभिभूत होकर व्यक्ति का कल्याण करेंगे ।

दैनिक कृत्य

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में आह्निक एवं आचार के अन्तर्गत दैनिक कृत्यों का वर्णन प्राप्त होता है । इन दैनिक कृत्यों से व्यक्ति का आर्ष परम्परा के प्रति प्रेम तथा अदृश्य शक्ति के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त होता है । ये दैनिक कृत्य ब्रह्मचारियों, गृहस्थों तथा वानप्रस्थियों के लिए कुछ तो समान थे, किन्तु कहीं-कहीं सूक्ष्म अन्तर भी इनमें होता था ।

आह्निक कृत्यों के अनुष्ठान के लिए प्रातः का समय ही निश्चित रहता था।[2] इन कृत्यों को पौर्वाह्णिक कहते थे क्योंकि इन्हें दिन के पूर्व-भाग में सम्पन्न किया जाता था । इन कृत्यों में स्नान, अर्घ्य, तर्पण, प्राणायाम, गायत्री जप, हवन और देव-पूजा की गणना की जाती थी । विश्वामित्र के साथ रहते हुए राम-लक्ष्मण अपने प्रातःकालीन कृत्य नियमानुसार किया करते थे ।[3] वनवास के समय भी उनकी यही दिनचर्या थी । उदाहरण

१- रामायण २/२५/३२ ।

२- डा० शान्तिकुमार व्यास-रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २४८ । ३- रामायण १/२५/८-९।

शोभा कुमारी

के लिए सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम में राम ने समय पर जागकर स्नान आचमन, संध्या आदि विधिपूर्वक करने के बाद अग्निहोत्र और देव-पूजन भी किया था।[1] पंचवटी में रहते समय राम, लक्ष्मण और सीता प्रतिदिन गोदावरी में स्नान करते और आश्रम लौटकर पूर्वाह्न कृत्य करते थे।[2]

जब विश्वामित्र के साथ अन्य मुनि गण और राम-लक्ष्मण जनकपुर जा रहे थे तब गंगावतरण की कथा सुनने के लिए वे सभी स्नान, तर्पण, देवपूजन और अग्निहोत्र से निवृत्त हुए और तब हविष्यान्न का भक्षण करके विश्वामित्र के चारों ओर बैठे थे।[3] महाराज जनक भी अपना आह्निक कृत्य समाप्त करने के बाद ही दूसरे कामों में लगते थे।

आह्निक क्रियाओं में संध्या वंदन प्रमुख था। संध्या वंदन द्विजाति मात्र के लिए अनिवार्य माना गया था। संध्योपासन की प्रमुख क्रियायें हैं -- आचमन, प्राणायाम, मार्जन, अघमर्षण, अर्घ्य, गायत्री जप एवं उपस्थान।[4] वैदिक काल में जहाँ कहीं संध्या का वर्णन आता है वहाँ अर्घ्य एवं गायत्री जप ही प्रधान क्रियाओं के रूप में हैं। कालान्तर में बहुत-सी दूसरी क्रियाएँ भी इसमें जुड़ती गयीं।

वाल्मीकीय रामायण में संध्या-वन्दन का कई बार उल्लेख हुआ है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इसमें कौन-कौन-सी क्रियाएँ की जाती थीं। संध्या का समय आने पर लोग संध्योपासन के लिए विशेष आग्रह करते थे। रामायण में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं

१- रामायण ३/८/२-३ ।

२- वही ३/१७/१-२ कृत्वा पौर्वाह्णिकं कर्म पर्णशालामुपागमत् ।

३- वही १/३५/८-९ ।

४- पाण्डुरंग वामन काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग १), पृ० २२८ ।

जहाँ संध्या के लिए उचित समय पर वरिष्ठ लोग कनीय लोगों को स्मरण दिलाते हैं कि समय बीता जा रहा है, संध्योपासन कर लो ।[1] प्रातः संध्या पूर्वाभिमुख होकर की जाती थी । यह सूर्योदय से पहले होती थी । सायंकाल की संध्या सूर्यास्त से पहले और पश्चिमाभिमुख की जाती थी । युवराज पद पर प्रस्तावित अभिषेक के दिन राम एक प्रहर रात रहते ही उठ गये थे और पूर्वाभिमुख होकर संध्योपासन एवं जप में निरत हो गये थे ।[2] संध्योपासना आर्यों के लिए इस प्रकार अनिवार्य थी कि घर में हो या यात्रा में इसका सम्पालन करना ही था । वनवास की पूरी अवधि में राम संध्याकर्म करते रहे थे । लंका के समुद्र के किनारे सीता के लिए शोक विह्वल होने पर भी उन्होंने सायंकालीन संध्या विधिवत् की थी इसका वर्णन वाल्मीकि करते हैं ।[3]

रामायण काल में स्त्रियों के द्वारा भी संध्योपासना की जाती थी । शृंगवेरपुर में राम लक्ष्मण और सीता तीनों ने साथ-ही-साथ संध्योपासना की थी ।[4] इतना ही नहीं, सुन्दरकाण्ड में सीता के द्वारा पृथक् संध्या किये जाने का संकेत मिलता है । लंका में सीता की खोज करते हुए हनुमान ने एक स्वच्छ जलवाली नदी देखकर सोचा कि सीता

१- रामायण १/२३/२ तथा ७/८१/२१ ।

२- वही २/६/५-६ । एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्यसः ।
पूर्वसंध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥

३- वही ६/५/२३ । आदिष्टो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत ।
स्मरन्कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुलीकृतः ।

४- वही २/५०/१८ ।

यहाँ संध्या करने के लिए अवश्य आयेगी ।[1] सम्भवतः तात्कालिक धर्म-व्यवस्था में स्त्रियों का कोई विशिष्ट वर्ग संध्योपासना अवश्य करता होगा ।

दैनिक कृत्यों में अग्निहोत्र का दूसरा स्थान था । इसे भी प्रातः और सायं दो बार किया जाता था । अग्निहोत्र का दूसरा नाम हवन या होम भी था । इसमें आहुतियाँ डालकर अग्नि का पूजन किया जाता था । अग्निहोत्र के प्रचार का कारण अग्नि के प्रति श्रद्धा थी, क्योंकि प्राचीन आर्यों के सभी कार्यों में अग्नि का स्थान अनिवार्य था । धर्मशास्त्रों में अग्निहोत्र के काल के विषय में विवाद है कि सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र हो या उसके बाद हो । देवऋण को चुकाने के लिए जीवन भर अग्निहोत्र करने की व्यवस्था की गयी थी । जिस अग्नि में होम होता था उसे श्रौत या स्मार्त कहते थे । अग्निहोत्र का सम्पादन अग्न्यागार या अग्निशाला में किया जाता था, जहाँ दिन-रात अग्नि प्रज्वलित रहती थी । जो ब्राह्मण अग्नि को सदा प्रज्वलित रखता था उसे आहिताग्नि कहते थे । ऐसे व्यक्ति को धर्मशास्त्र में बहुत पुण्यात्मा कहा गया है । वाल्मीकीय रामायण में राम ने रावण के हाथों मारे गये जटायु को आहिताग्नियों द्वारा प्राप्य पुण्यशाली लोक प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया था ।[2] अयोध्या में सभी लोग अग्निहोत्र करते थे तथा लंका में भी अग्नि को तृप्त करनेवाले पुरुष भरे हुए थे । सीता और कौशल्या के द्वारा भी अग्निहोत्र किये जाने का वर्णन मिलता है । इससे यह अभिप्राय निकलता है कि स्त्रियाँ अपने पति

१- रामायण ५/१४/४९ । संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी ।

२- वही ३/६८/२९-३० । या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ।
- मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥

के साथ तो अग्निहोत्र करती थीं, कभी-कभी पृथक्-पृथक् भी अग्निहोत्र करती थीं ।

अपने दैनिक कृत्यों में देवताओं की स्तुति और पूजा भी लोग करते थे । प्राचीन आर्यों का समस्त जीवन देवताओं के अनुग्रह से सवलित था । देवताओं को मानव के सुख-दुःख का साथी समझा जाता था । संकटग्रस्त होने पर सभी लोग देवताओं की सहायता माँगते थे । अपनी इष्टसिद्धि के लिए भी लोग देवताओं का स्मरण एवं पूजन करते थे । वैदिक युग से ऐसा वातावरण चला आ रहा था जिसमें लोग देवताओं के निरन्तर सम्पर्क में ही रहते थे । देवताओं में मानव संवेदना मानी जाती थी । वे भक्ति और आराधना से सहज-सुलभ माने जाते थे । राम ने रावण-वध के पूर्व आदित्य-हृदय का पाठ अगस्त्य ऋषि के परामर्श से किया था । इससे उन्हें इष्ट-सिद्धि मिली थी ।[1]

देव-पूजन

वैदिक साहित्य से सूचित होता है कि आर्य लोग देवताओं को अपने परिवार के समान समझते थे, जिनसे इच्छानुसार सहायता की याचना की जाती थी । ऋग्वेद संहिता में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्र के लिए सुलभ होता है उसी प्रकार अग्निदेव हमारे लिए बन जाएँ । ये हमारे साथ-साथ सदैव रहें ।[2] वाल्मीकीय रामायण में भी देवताओं के प्रति वही भाव प्रकट किया गया है, उनका पूजन लोगों की धर्मचर्या का अनिवार्य अंग था । अयोध्या के लोग अपने आप तो देव-पूजन करते ही थे, अपने प्रियनेता राम के कल्याण के लिए भी देवताओं को नमस्कार करते थे ।[3]

१- रामायण ६/१०५ ।

२- ऋग्वेद-संहिता १/१/९ । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ।

३- रामायण २/२/५१-५२ ।

जब दशरथ की सभा में राम को युवराज बनाने का निश्चय हो गया था उस समय भी पुरवासी अपने घरों में लौट कर प्रसन्न मन से देवताओं की पूजा करने लगे थे। युद्ध काण्ड में अग्नि-प्रवेश के पूर्व सीता ने भी देवताओं को प्रणाम किया था। स्त्रियाँ भी देव-पूजा करती थीं। कौशल्या ने राम के युवराज बनने का समाचार पाकर ध्यानावस्थित होकर भगवान् जनार्दन का पूजन किया था।[1]

संकट-काल में देव-पूजा स्थगित हो जाती थी। उदाहरणार्थ दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के कारण अयोध्या में देवपूजा में विघ्न आ गया था। इसी प्रकार अराजकता का एक फल देव-पूजा का स्थगन होता था।[2]

देवताओं की कल्पना अनेक प्रकार से की जाती। प्रत्येक नगर, गाँव और गृह के अपने पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता माने जाते थे, जिन्हें ग्रामदेवता और गृह देवता कहते थे। विशिष्ट कार्यों में उनकी अर्चना अनिवार्य थी। विशेषतः यात्रा के आरम्भ में उनसे अनुमति अवश्य ली जाती थी।[3] कैकेयी ने दशरथ के शपथ-ग्रहण की साक्षी के लिए घर-घर में निवास करनेवाले गृह देवताओं का आवाहन किया था।

देवताओं के स्थानों की कल्पना के प्रसंग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अन्तःपुर के द्वार, नगरद्वार तथा चतुष्पथों की पूजा भी चन्दन, माला, धूप, गंध आदि से की जाती थी।[4] तात्पर्य यह है कि इन स्थलों में भी देवताओं का आवास माना गया

१- रामायण २/४/३२-३३ ।

२- वही २/६७/२०। नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥

३- वही २/५०/२ ।

४- वही २/३/१४ ।

था । मानव जिन-जिन वस्तुओं का उपयोग करता था और जिन स्थलों को महत्वपूर्ण समझता था उनकी पूजा देव-भाव से करता था । बादरायण ने जिस प्रकार उपनिषदों के कई वाक्यों में जड़ पदार्थों में निवास करने वाले कल्पित देवताओं का निर्देश बतलाया है,[1] उसी प्रकार वाल्मीकि ने भी समस्त उपयोगी पदार्थों में देवता का निवास माना है । यही कारण है कि योद्धाओं के अस्त्रशस्त्रों के भी अधिष्ठाता देवता माने जाते थे और उन्हें चलाने के पूर्व उनकी प्रार्थना की जाती थी ।[2] हिन्दुओं में स्नान के पूर्व जल की प्रार्थना प्रातःकाल पृथ्वी पर चरण रखते हुए पृथ्वी की प्रार्थना तथा इसी प्रकार की अन्य प्रार्थनाओं का भी प्रचार रहा है । जनक के महाधनुष की पूजा तो प्रतिदिन गंध, धूपादि से की जाती थी ।

देव-मन्दिर

देवताओं की पूजा के स्थल को देव-मन्दिर, देव-गृह, देवायतन आदि कहा जाता था । ऋग्वेद-संहिता में न तो मूर्तियों का उल्लेख है, न मूर्तियों की पूजा के लिए मन्दिर आदि का ही । सैन्धव सभ्यता में मूर्तिपूजा के संकेत मिलते हैं, और वे मूर्तियाँ निश्चित स्थान पर स्थापित होती थीं । वैदिक आर्यों के दैनिक कृत्यों में मूर्ति पूजा का स्थान नहीं था । तात्कालिक आर्यों के दैनिक जीवन के नियम बतलाने वाले गृह्य-सूत्र भी देवताओं की मूर्तियों की पूजा का विवरण देने में सर्वथा मौन है ।[3]

किन्तु रामायण और महाभारत के काल में विष्णु, शिव, स्कन्द आदि देवताओं

१- ब्रह्मसूत्र २/१/५ अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।
२- रामायण ६/७२/२५ ।
३- डा० ए०डी० पुसलकर - भास ए स्टडी, पृ० ४३० ।

के सार्वजनिक मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं । इन ग्रन्थों के काल में मन्दिरों और मूर्तियों की उपस्थिति से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव से ही मूर्ति पूजा का आरम्भ नहीं हुआ । वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है कि राम के अभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्यावासी हिमालय के शिखर के समान ऊँचे देव-मन्दिरों पर ध्वजा पताका फहराने में लग गये थे ।[1] इस अवसर पर पुरोहित वशिष्ठ ने भी देवताओं के मन्दिरों और चैत्यों में, अन्न, द्रव्य, दक्षिणा और पूजा की सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मंत्रियों को आदेश दिया था ।[2] देवालयों के द्वार पुष्पमाला से अलंकृत रहते थे । युवराज की प्रस्तावना के दिन राम ने सीता के साथ संयमपूर्वक विष्णु के मन्दिर में शयन किया था --

श्रीमदायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ।[3]

कौशल्या ने भी राम-वनगमन के समय राम का स्वस्तिवाचन करते हुए कहा था कि चैत्यों और मन्दिरों में जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो वे सब देवता महर्षियों के साथ मिलकर वन में तुम्हारी रक्षा करें ।[4] इस प्रकार मन्दिरों का अस्तित्व प्रमाणित होता है । चित्रकूट जाकर भी राम अयोध्या के मन्दिरों का स्मरण करते थे ।

देव-मन्दिर दो प्रकार के होते थे । कुछ तो सार्वजनिक थे, जो नागरिकों की सामूहिक सम्पत्ति के रूप में थे उनकी देखभाल और अलंकरण में सबों की प्रगा

१- रामायण २/६/११-१२ ।

२- वही २/३/१८-१९ । देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः ।
उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्यभोग्याः पृथक्-पृथक् ॥

३- वही २/६/४ ।

४- वही २/२५/४ ।

रुचि रखती थी । कुछ देवालय व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में थे । आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति अपने घरों में देवालय रखते थे । जब मिथिला से दशरथ की पुत्रवधुएँ अयोध्या आयीं तब अन्तःपुर की रानियों ने देवमन्दिरों में ले जाकर उनसे देवताओं की पूजा करवायी थी । ये मन्दिर निश्चित रूप से राजप्रासाद में ही अवस्थित थे, किन्तु वे जिस आयतन में राम ने सीता के साथ संयमपूर्वक शयन किया था वह भी उनके प्रासाद में ही अवस्थित था । इससे प्रतीत होता है कि सम्पन्न परिवारों में देवालय बने होते थे । ऐसा लगता है कि वैदिक युग में जिस प्रकार प्रत्येक गृह में अग्निशाला होती थी उसी प्रकार रामायण-काल में भी प्रत्येक गृह में देवता का साधारण स्थान भी रहता होगा । उसे आज ठाकुरबाड़ी या पूजाघर कहते हैं । जिस प्रकार आज सम्पन्न गृहों में इसका स्वरूप कुछ बड़ा होता है उसी प्रकार रामायण-काल में भी रहा होगा ।

अगस्त्य ऋषि के आश्रम में विभिन्न देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् स्थान बने हुए थे ।[1] वहाँ ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भर्ग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसु, अनन्त, गरुड़, कार्तिकेय तथा धर्मराज के पृथक्-पृथक् स्थान बने हुए थे । इस प्रकार वह आश्रम अनेक देवताओं का आलय था । लोग यात्रा क्रम में मार्गस्थित मन्दिरों और चैत्यों की प्रदक्षिणा भी करते थे ।

रामायण में देवतायतनों के साथ-साथ "चैत्य" शब्द का भी उल्लेख मिलता है। यह शब्द टीकाकारों में विवाद का विषय रहा है । इसे चौराहा, मार्गवर्ती वृक्ष, ग्रामदेवता का स्थान, यज्ञस्थल, बौद्ध मन्दिर आदि विभिन्न अर्थों में लिया गया है ।[2] अमरकोषकार ने

१- रामायण ३/१२/१०-२१ ।

२- डा० शान्ति कुमार व्यास - रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २५५ ।

"चैत्य" और "आयतन" को समान अर्थ में लिया है।[1] स्फुटतः चैत्य शब्द का प्रयोग विशेष रूप से बौद्ध वास्तुकला के सन्दर्भ में ही बाद में रूढ़ हो गया किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यौगिक ही है। इसकी व्युत्पत्ति "चि" धातु से होती है जिसका अर्थ है -- चयन। रामायण में उन भवनों को चैत्य कहा गया है, जिनमें ईंटों या पत्थरों को जोड़ा गया हो। इन भवनों में भस्म आदि के अवशेष रखे जाते थे। इनकी पूजा की जाती थी। ये चैत्य एक प्रकार से स्मारक के रूप में होते थे। यज्ञ की स्मृति में या किसी की मृत्यु होने पर ये चैत्य खड़े किये जाते थे। बौद्ध चैत्यों का बाहुल्य हो जाने पर ब्राह्मणों ने यज्ञ-चैत्यों का निर्माण बन्द कर दिया। इसलिए वाल्मीकीय रामायण में चैत्य शब्द इसी अर्थ की ओर संकेत करता है कि यज्ञादि का अनुष्ठान करने पर उन यज्ञस्थलों को स्मारक के रूप में छोड़ दिया जाता था या वहाँ भवन का निर्माण ईंटों या पत्थरों से किया जाता था, ऐसे स्थलों की लोग पूजा करते थे। रावण की तुलना जो श्मशान चैत्य से की गयी है[2] वह इस बात का संकेत करती है कि श्मशान भूमि पर दिवंगत महापुरुषों या राजाओं की स्मृति में चैत्य नाम के स्मारक खड़े किये जाते थे। इनकी पूजा भी लोग, मृतक पूजा के विचार के कारण करते थे। इस प्रकार रामायण में आयतनों और चैत्यों के पूजे जाने का उल्लेख है।

मूर्त्ति-पूजा

रामायण के उत्तरकाण्ड में शिवलिंग का उल्लेख हुआ है और रावण द्वारा उसकी पूजा का भी वर्णन है। पुरातत्व के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सैन्धव सभ्यता

१- अमरकोष २/२/७ ।
२- रामायण ५/२२/२९ ।

शोभा कुमारी

में लिंग-पूजा होती थी ।[1] कुछ कल्प-सूत्रों में अनेक देवताओं की मूर्त्तियों की पूजा का उल्लेख हुआ है । उत्तरकाण्ड में ही कमल पर आसीन लक्ष्मी तथा चतुर्भुज विष्णु की कल्पना की गयी है । इस प्रकार देवताओं के मूर्त्त रूप की पूजा केवल उत्तरकाण्ड तक ही सीमित है ।

अन्य काण्डों में देव-प्रतिमाओं का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी गन्ध,पुष्प, नैवेद्य,फूल, दीप आदि पूजा सामग्री का वर्णन किसी पूज्य देवता के मूर्त्त रूप का प्रमाण है । यदि कोई सामग्री अर्पित किये जाने के योग्य प्रतिमा न हो तो इन उपचारों का वर्णन निरर्थक हो जाता है । अयोध्याकाण्ड में राम तथा कौशल्या के द्वारा जो देव-पूजा किये जाने का वर्णन मिलता है वह स्पष्टतः विष्णु या नारायण की किसी प्रतिमा की पूजा का संकेत देता है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग के प्रतीकात्मक देवताओं के समान रामायण युग में भी देवताओं को हव्य आदि अर्पित करते थे । वैदिक युग में उपचार का उल्लेख नहीं मिलता ,जबकि रामायण में देवताओं को अर्पित किये जानेवाले पदार्थों का वर्णन मिलता है । वैदिक युग में देवताओं को मनुष्य की भावना से संयुक्त मानकर सांकेतिक पूजा की जाती थी, किन्तु रामायण युग में उन देवताओं को मूर्त्त रूप दे दिया गया । देवताओं के हाथ-पैर,आँख,आभूषण आदि का जो वर्णन वैदिक ऋषियों ने किया था उसे महाकाव्यकाल के कलाकारों ने अपनी कला में रूपायित कर दिया । परिणामतः भक्ति की धारा प्रवाहित होने लगी ।

यास्क ने अपने निरुक्त में जिस प्रकार देवताओं और मनुष्यों की भाषा का

१- पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास ,भाग १, पृ० २८०।

साम्य दिखाया है[1], उसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण में भी यह मान्यता की गयी है कि मनुष्य जो अन्न स्वयं खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं।[2]

भारत में मूर्त्ति-पूजा के प्रचार का मुख्य कारण वैदिक यज्ञों का ह्रास ही था। अहिंसा के सिद्धान्त का विकास विभिन्न उपासनाओं का प्रचार तथा उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के दार्शनिक मत के विकास आदि अनेक कारणों से वैदिक यज्ञ क्रमशः अस्तोन्मुख होता गया। ऐसी स्थिति में उपासकों ने देवताओं की मूर्त्ति बनाने का उपक्रम किया जिससे मूर्त्ति पूजा प्रचलित हुई। यास्क ने देवताओं के आकार के प्रश्न पर तीन पृथक्-पृथक् मत दिये हैं। वे हैं --(१) देवता पुरुष के आकार वाले हैं,(२) वे पुरुषाकार नहीं है, तथा (३) वे उभयविध हैं अर्थात् यद्यपि वे पुरुषाकार नहीं हैं, किन्तु किसी कार्यवश या उद्देश्य से कई प्रकार के स्वरूप धारण कर सकते हैं।[3] प्रो० पी० वी० काणे ने अन्तिम मत में अवतारों के सिद्धान्त का संकेत बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि प्रतीकात्मक देवता को कार्यवश मानवाकार में आते हुए बतलाया गया है।

ऊपर अगस्त्य ऋषि के आश्रम में विभिन्न देवताओं के स्थानों की चर्चा की गयी है। यह आश्रम आजकल के मठों या विशाल मन्दिर परिसरों के समान प्रतिमा बहुल स्थान रहा होगा। इन प्रतिमाओं पर स्वयं अर्जित फूलों का उपहार दिया जाता है।[4] अगस्त्य के आश्रम में यज्ञ का उल्लेख न करके पुष्पों का उपहार चढ़ाना यह सिद्ध करता है

१- निरुक्त १/२ तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

२- रामायण २/१०३/३० यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्यदेवताः।

३- निरुक्त ७/६-७।

४- रामायण ३/११/९२।

शोभा कुमारी

कि वहाँ देवपूजा नये रूप में होती थी । घरों में जिन देव मन्दिरों का उल्लेख हुआ है या सार्वजनिक रूप से जो देवायतन वर्णित हुए हैं वे निश्चित रूप से देव-प्रतिमाओं से विभूषित रहे होंगे । उन देवतायतनों में प्रतीकात्मक पूजा का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जब कोई देवायतन किसी देवता विशेष से सम्बद्ध है तो अवश्य ही वहाँ उसकी यथानिर्दिष्ट प्रतिमा होगी । यह बात अवश्य है कि रामायण-काल में मूर्ति पूजा बहुत प्रारम्भिक रूप में रही होगी । वैदिक यज्ञों का अभी बहुत सम्मान था । उनका मूर्ति-पूजा के प्रचार के कारण बहुत अधिक ह्रास नहीं हुआ था ।

यज्ञों की स्थिति

रामायण का युग वैदिक काल से चली आनेवाली यज्ञ परम्परा को न्यूनाधिक रूप में सुरक्षित रखे हुए था । वह कल्पसूत्रों का युग था । छिट-फुट रूप से यज्ञों का अनुष्ठान राजाओं के द्वारा किया जाता था, जिससे उन्हें गौरव की प्राप्ति होती थी । यज्ञ-कर्ता राजा और ब्राह्मण को बहुत यश मिलता था, उनके उत्तराधिकारी भी अपने पूर्वजों का यज्ञकर्त्ता के रूप में उल्लेख किया करते थे । लक्ष्मण ने सुग्रीव के सामने अपने पिता का परिचय अग्निष्टोम आदि पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञों के अनुष्ठाता के रूप में किया था ।[1] भरत और कैकेयी ने भी दशरथ को यायजूक कहा था अर्थात् वे यज्ञों के नियमित अनुष्ठाता थे । रामायण में यज्ञ-सम्बन्धी बहुत-सी उपमाएँ दी गयी हैं । जिनसे यज्ञों के व्यापक प्रचार प्रसार का बोध होता है । उदाहरणार्थ - राम कुश से भरे हुए दक्षिण सागर के तट पर वैसे ही पहुँचे जैसे अग्निदेव वेदी में प्रविष्ट होते हैं ।[2] इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में कहा गया है कि अनरण्य की सेना रावण के पराक्रम के

1- रामायण ४/४/८ । 2- वही ६/१९/४१ ।

समस्त उसी प्रकार नष्ट हो गयी जिस प्रकार हुताग्नि में जला गया द्रव्य हो ।[1]

वैदिक कल्पसूत्रों में जिस प्रकार चार ऋत्विजों का प्रयोग होता था, उसी प्रकार रामायण-काल में भी चार ऋत्विज प्रयुक्त होते थे । रामायण के बालकाण्ड में महाराज दशरथ के द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ का विस्तृत वर्णन मिलता है । इस प्रसंग में अनेक कर्म काण्डीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है । उदाहरणार्थ -- एक श्लोक में कहा गया है कि ब्राह्मणों ने प्रवर्ग्य (अश्वमेध के अंगभूत कर्म विशेष) का शास्त्र के अनुसार सम्पादन करके "उपसद" नामक इष्टि विशेष का भी शास्त्र के अनुसार ही अनुष्ठान किया ।[2] प्रातः माध्यन्दिन और सायं सवनों का भी इसमें वर्णन किया गया है। इन्द्र आदि देवताओं का आवाहन करके उनके योग्य हविष्य के भाग अर्पित किये थे । उस यज्ञ में कई वृक्षों की लकड़ियों के यूप गाड़े गये । छब्बीस यूपों को, छब्बीस-छब्बीस अरत्नि ऊँचा गाड़ा गया ।[3] इस यज्ञ में ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित तथा आप्तोर्याम नामक महाक्रतु भी उत्तरकाल में सम्पादित हुए । राजा ने होता को पूर्व दिशा की भूमि, अध्वर्यु को पश्चिम दिशा की भूमि, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा की भूमि तथा उद्गाता को उत्तर दिशा की भूमि दक्षिणा में दी ।[4]

यज्ञ की दीक्षा लेने पर यजमान को मन और इन्द्रियों पर संयम करके समस्त नियमों का पालन करना पड़ता था । दीक्षा की अवधि में किसी पर क्रोध करना पुण्यनाशक था । विश्वामित्र ने दशरथ के सामने यह स्वीकार किया था कि अपने यज्ञ के अनुष्ठान में मैं राक्षसों पर क्रोध नहीं कर सकता क्योंकि यज्ञ की दीक्षा का नियम ही ऐसा है कि

१- रामायण ७/१८/१५ । २- वही १/१४/४ ।
३- वही १/१४/२५ एक अरत्नि का प्रमाण २४ अंगुल होता है ।
४- वही १/१४/४३-४४ ।

शोभा कुमारी

इसे स्वीकार कर लेने पर किसी को शाप नहीं दिया जा सकता ।[1]

यज्ञानुष्ठान में शास्त्रीय विधि का आरम्भ से अन्त तक पालन होता था । यज्ञ में किसी प्रकार की भूल यज्ञ से सम्बद्ध सभी लोगों को नष्ट कर सकती थी ।[2] दशरथ ने जब अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया था तब अपने सभी सहायकों को यह कहकर सावधान कर दिया था कि इसमें किसी प्रकार का अपराध या स्खलन नहीं होना चाहिए क्योंकि ब्रह्म-राक्षस इसमें छिद्र ढूँढते रहते हैं और विधिहीन यज्ञ का अनुष्ठानकर्त्ता शीघ्र नष्ट हो जाता है ।[3] यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरम्भ में शान्ति कर्म का अनुष्ठान होता था। यज्ञानुष्ठान किसी गृहस्थ के द्वारा होता था तो उसकी पत्नी भी यज्ञ में दीक्षा लेती थी । पाणिनि ने पत्नी का पत्नीत्व यज्ञसंयोग के कारण ही स्वीकार किया है ।[4]

यज्ञ के प्रति भारतीयों की ऐसी निष्ठा थी कि उसमें प्रयुक्त सामग्री को भी देवता समझा जाता था । यही कारण है कि कौशल्या ने जब राम की रक्षा के लिए देवता-ओं का आवाहन किया था तब "समिधा, कुश, वेदी आदि भी रक्षा करें" - ऐसा कहा था।[5] यज्ञ की सामग्री का एक यज्ञ में प्रयोग होने पर दूसरे में उनका उपयोग नहीं किया जाता

१- रामायण १/१९/८ ।
तथा भूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ।
~~यज्ञसिद्धिं भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः ॥~~

२- रामायण १/३९/१० । यज्ञच्छिद्रं भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः ।

३- रामायण १/१२/१७-१८ ।

४- पाणिनि -अष्टाध्यायी ४/१/३३ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।

५- रामायण २/२५/७ ।

था, उसे उत्कृष्ट समझा जाता था ।[1] यज्ञों में अश्वमेध प्रतिष्ठित था । उसके अनुष्ठान से राजा लोग अपनी सार्वभौमसत्ता सिद्ध करते थे । बालकाण्ड में दशरथ के द्वारा और उत्तरकाण्ड में राम के द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञों का जो-जो सर्गों में वर्णन मिलता है । जिससे उसकी महत्ता, संचालन-व्यवस्था तथा उसमें प्रयुक्त सम्पत्ति का पता मिलता है।

वैदिक यज्ञों के समान रामायण काल के यज्ञों में भी पशुबलि का प्रयोग होता था । वैदिक-विधि के अनुसार सम्पादित अन्त्येष्टि क्रिया में पशुबलि दी जाती थी ।[2] सीता ने अपने हरण के समय रावण को फटकारा था कि यज्ञ के खम्भे में बँधे पशु के समान तुम्हारा जीवन बच नहीं सकता ।[3]

लक्ष्मण को पशुबलि की प्रथा का विरोधी बतलाया गया है । वे राम से कहते हैं कि पराक्रमहीन प्राणियों का वध करना राजा के लिए उसी प्रकार निन्दनीय है जिस प्रकार यज्ञभूमि में पशुओं का वध ।

दान की महिमा

प्राचीन सभ्य जातियों में सर्वत्र दान की महिमा रही है । भारतवर्ष में इसका वर्णन वैदिक युग से ही प्राप्त होता है । ऋग्वेद में विविध प्रकारों के दानों और दाताओं की प्रशस्ति गायी गयी है । दानों में गायों, रथों, ऊँटों, अश्वों, नारियों, भोजन आदि का विशिष्ट उल्लेख हुआ है । छान्दोग्योपनिषद् (४/१-२) में वर्णन आया है जानश्रुति

१- रामायण २/६१/१० ।
हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥

२- वही ६/१११/११० । तत्र मेध्यं पशुं हत्वा ।

३- वही ३/५६/८ पशोर्यूप गतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ।

पौत्रायण ने स्थान-स्थान पर ऐसी भोजन शालाएँ बनवा रखी थीं जहाँ पर सभी दिशाओं से लोग आकर भोजन प्राप्त करते थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो व्यक्ति गायों की दक्षिणा देता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान पाता है, अश्वदान करनेवाला सूर्यलोक में निवास करता है, स्वर्णदानी देवता बनता है और परिधान दान करनेवाला दीर्घ जीवन पाता है।[1] ऋग्वेद की दान-स्तुतियाँ विख्यात हैं।

रामायण-काल में भी दान का बहुत महत्त्व था। विशिष्ट अवसरों पर अनेक वस्तुओं का दान किया जाता था। दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ में अन्न और वस्त्र का इतना दान दिया था कि सर्वत्र यही स्वर सुनायी पड़ता था कि मणिरत्न, स्वर्ण तथा गौओं का दान तो सामान्य बात थी।[2] किसी-किसी ब्राह्मण को राजा अपने शरीर के आभूषण भी दे दिया करते थे। दान या उपहार में गायें अनिवार्य रूप में दी जाती थीं। सैकड़ों हजारों, गायें दान में दे देना एक सामान्य बात थी। वनवासी ऋषियों को भी गायें समर्पित की जाती थीं क्योंकि उनके धार्मिक क्रिया-कलाप का मूलाधार गायें ही होती थीं।[3]

राम जब वन जाने लगे थे तो उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अयोध्या के पूज्य और दानार्ह व्यक्तियों को दे दी थी। सभी कालों में यथाशक्ति दान करने की प्रवृत्ति लोगों में वर्तमान थी। यद्यपि दान किसी लौकिक पुरुष को ही दिया जाता था किन्तु इस दान से अनेक लौकिक और अलौकिक कामनाओं की पूर्ति मानी जाती थी। देवताओं की प्रसन्नता के लिए दान को बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। प्रायः लोग दान करते हुए

1- ऋग्वेद १०/१००/२ तथा ७।

2- रामायण १/१४/४८।

3- वही १/५२/११-२५।

कहते थे कि मैं यह पदार्थ तुम्हें दे रहा हूँ, भगवान् हरि प्रसन्न हों ।[1] शक्ति-सम्पन्न राजा ही नहीं, ब्राह्मण भी समय-समय पर दान करते थे ।

इस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित दान का महत्व रामायण-युग में भी अक्षुण्ण रूप से वर्तमान था ।

तीर्थ-यात्रा

रामायण-काल के धार्मिक आचारों में तीर्थ-यात्रा को भी बहुत महत्व दिया जाता था । तीर्थ-यात्रा से न केवल विभिन्न प्रदेशों का ज्ञान होता था, अपितु विशिष्ट स्थलों से सम्बद्ध देवताओं के प्रति भक्ति भी बढ़ती थी । रामायण के बालकाण्ड में विश्वामित्र के आगमन पर दशरथ ने कहा था कि आपके दर्शन से आज मेरा घर तीर्थ हो गया मैं अपने आपको पुण्यक्षेत्रों की यात्रा करके आया हुआ मानता हूँ ।[2]

सीता ने भी गंगा-स्थित देवताओं, तीर्थों और मन्दिरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया था तथा वन से लौटकर उन सबका पूजन करने का संकल्प प्रकट किया था । उत्तरकाण्ड में गोप्रतार, औशर्ण, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, नैमिषारण्य और सेतुबन्ध की प्रतिष्ठा तीर्थों के रूप में वर्णित है ।

गौ का महत्व

हिन्दू-संस्कृति में गौ का महत्व वैदिक युग से ही माना गया है । गो-हत्या को सबसे बड़ा पाप माना गया है । ऋग्वेद-संहिता में भी गायों की हत्या करनेवाले

१- अग्निपुराण २०८/६१ एतत्तुभ्यं सम्प्रददे प्रीयतां मे हरिः शिवः ।

२- रामायण १/१८/५६ ।

और मनुष्यों को मारनेवाले से दूर रहने का उपदेश दिया गया है । पौराणिक युग में गायों को इतना महत्त्व दिया गया था कि एक प्रसिद्ध लोकोक्ति चल पड़ी थी कि गायें मेरे आगे-पीछे रहें, वे मेरे हृदय में निवास करें और हम सभी गायों के बीच में रहें । इस प्रकार गोपालन तथा गोरक्षा से सम्बद्ध पर्याप्त साहित्य संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध है ।

गौ का आर्थिक और सामाजिक महत्त्व देखते हुए ही उन्हें धार्मिक महत्त्व दिया गया । रामायण में कहा गया है कि वनवासी ऋषियों का तो सब कुछ गौ पर ही निर्भर था ।[1] रामायण में गौ-हत्या राजा और ब्राह्मण की हत्या के समान निंदनीय मानी गयी है ।[2] गाय को पैर से छूना बहुत बड़ा पाप माना जाता था । इसीलिए भरत ने यह शपथ खायी थी कि यदि मेरी इच्छा से राम को वन भेजा गया हो तो मुझे सोती हुई गाय को पैर से छूने के समान पाप लगे ।[3] उन्होंने दूसरी शपथ में गौ का सारा दूध निकाल कर बछड़े को भूखे मरने देना भी पाप माना था ।[4] गौओं और कुंवारी कन्याओं को बहुत मांगलिक समझा जाता था । वनवास से लौटने पर राम के आगे-आगे ब्राह्मण कन्याएं और शुभ-सूचक गायें भी चल रही थीं । राज्याभिषेक में भी गायों का समावेश होता था । विश्वामित्र ने राम से कहा था कि गायों और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए राक्षसी ताटका को आप मारें ।[5]

१- रामायण १/५२/१३-१५ ।

२- वही ४/१७/३६ राजाहा ब्रह्महा गोघ्नः सर्वे निरयगामिनः ।

३- वही २/७४/२२ ।

४- वही २/७५/५४ ।

५- वही १/२५/१५ ।

गायों के साथ रामायण-काल में इतनी आत्मीयता थी कि उनकी सींगों को स्वर्ण से मण्डित किया जाता था।[1] गो-दान करना सभी दानों से बढ़कर था। इस प्रकार तात्कालिक आर्यों ने जो विभिन्न पदार्थों में देवता की भावना रखी थी उनमें गायों के प्रति सर्वोपरि भावना थी जिसका कारण मूलतः भौतिक था किन्तु उसे धार्मिकता का आवरण दे दिया गया था।

नदी-पूजा

प्राचीन भारतीयों ने जड़ पदार्थों में चेतना का आवास माना था। इसी क्रम में नदियों को भी देवता मानकर उनकी पूजा की जाती थी। वैसे तो वैदिक-काल में भी सरस्वती आदि नदियों को देवभाव प्राप्त हो चुका था, किन्तु महाकाव्यकाल में हिन्दुओं की यह भावना बहुत ऊँचाई पर पहुँच गयी थी। भारत की प्रायः सभी नदियों को पवित्र माना जाता था। आर्यों के मुख्य निवास-स्थल अर्थात् मध्यदेश से होकर बहनेवाली गंगा को सभी नदियों में श्रेष्ठ माना जाता था। विश्वामित्र ने बालकाण्ड में गंगावतरण का विस्तृत वर्णन किया था। उसे विष्णु के चरणों से बहकर आनेवाली बतलाया था। गंगा में स्नान करने से सभी पापों के नष्ट हो जाने की भावना रखी गयी थी।[2] मृत व्यक्तियों की भस्म को गंगा जल से स्पर्श होते ही उन्हें स्वर्ग मिलता था --ऐसी कल्पना की गयी थी। गंगा पार होते हुए राम ने मंत्रों का जप किया था तथा लक्ष्मण और सीता ने आचमन करके इस नदी को प्रणाम किया था। सीता ने गंगा की पूजा करने का संकल्प भी किया था।

१- रामायण १/६२/२१ ।
२- वही १/४३/३० कृताभिषेको गंगायां बभूवगतकल्मषः ।

गंगा के समान यमुना, तमसा, गोदावरी, सरयू, भागवती इत्यादि नदियों को भी देव-भाव से देखा जाता था । जलप्रिय हिन्दू जाति नदियों के प्रति अद्भुत देव-भावना रखती थी ।

शैवमत तथा वैष्णव-धर्म

रामायण मूलतः वैष्णव-ग्रन्थ है, जिसमें राम को विष्णु का अवतार कहा गया है । इसलिए विष्णु की प्रशंसा सर्वत्र की गयी है । बालकाण्ड में एक स्थान पर शिव से विष्णु को ऊँचा दिखाया गया है ।[1] किन्तु सामान्य रूप से शिव और विष्णु दोनों को अन्य स्थलों पर समान दृष्टि से देखा गया है । वैष्णवों और शैवों में संघर्ष या वैमनस्य का संकेत नहीं मिलता ।[2] विष्णु और शिव की पूजा साथ-साथ प्रचलित थी । अयोध्या में राम नारायण और विष्णु की अर्चना करते हैं, किन्तु चित्रकूट में वे शिव और विष्णु दोनों को बलि अर्पित करते हैं ।[3] कौशल्या भी शिव और विष्णु दोनों की पूजा करती है ।[4] भरत ने चित्रकूट में राम से कहा कि जिस प्रकार सभी प्राणियों पर महेश्वर शिव कृपा करते हैं, उसी प्रकार आप अपने बान्धवों पर कृपा रखें ।[5] सेतुबन्ध रामेश्वर में राम ने शिव की अर्चना की थी । महादेव ने उन्हें आशीर्वाद दिया था । इसका उल्लेख राम लंका से लौटते समय सीता से करते हैं ।[6]

१- रामायण १/७५/२० ।
२- डा० शान्ति कुमार व्यास - रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २६५ ।
३- रामायण २/५६/३१ ऐशानेयं बलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।
४- रामायण २/२५/४५ यथार्चिता देवगणाः शिवादयः ।
५- वही २/१०६/३१ ।
६- वही ६/१२३/२० अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः ।

यद्यपि हिन्दू-धर्म के अनेक देवतावाद का प्रचलन रामायण-काल में वर्तमान था, किन्तु वैदिक युग के समान सभी देवताओं का अस्तित्व एक देवता में ही माना जाता था। इसीलिए मूलतः एक ही देवता के भिन्न रूप अन्य देवताओं को गौण मानते थे। यही कारण है कि युद्धकाण्ड में अवस्थित आदित्य-हृदय स्तोत्र में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु शिव, स्कन्द आदि देवताओं के कार्यों का सम्पादक और सर्वदेवमय कहा गया है। इस प्रकार एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति भी रामायण में दिखायी पड़ती है। परमेश्वर की एक ही शक्ति का भान विभिन्न देवताओं के रूप में होता है। कौशल्या ने जब समस्त चराचर को आमंत्रित करके वन में राम की रक्षा के लिए कहा तब यही आभास मिलता है कि एक ही परमात्मा विभिन्न रूपों में कार्यरत अवस्थित है।

देवताओं में मानव-भाव

वैदिक युग में ही देवताओं के मानवीकरण के द्वारा मानव और देवगण का परस्पर सहयोग दिखाया गया था। जीवन के धार्मिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में ये परस्पर सहयोगी माने गये थे। देवताओं में मनुष्य के समान सत्-असत् दोनों प्रकार के भाव कल्पित हुए हैं। देवताओं का वर्णन रामायण में भी जिस रूप में किया गया है उससे यही पता लगता है कि देवता कोई निरपेक्ष, उदासीन और दिव्य प्राणी नहीं थे, अपितु मनुष्यों के सुख-दुःख के साथी बनकर सांसारिक व्यापारों में रुचि लेते थे। यदि इन्द्र सारथि सहित रथ लेकर राम की सहायता के लिए आते हैं तो इन्द्र को भी शम्बरासुर के साथ युद्ध करने में दशरथ से सहायता मिली थी।[1] कहीं-कहीं तो देवताओं

१- रामायण २/९/११ ।

को इस प्रकार मानवीय भाव से युक्त बताया गया है कि उनमें और मनुष्यों में कोई अन्तर ही नहीं । देवता भी मानव-सुन्दरियों को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे। वस्तुतः प्राचीन भारत में देवताओं और मानवों में आत्यन्तिक अन्तर नहीं था तथा अमरता के अधिकारी होने पर भी उनमें मनुष्यों के गुण-दोष वर्तमान थे ।

दुष्ट-तत्वों की पूजा

रामायण-काल में ऐसे दुष्ट तत्वों की पूजा भी प्रचलित थी, जो मानवों के लिए अनिष्टकारी थे । कौशल्या ने वन में राम की रक्षा के लिए भूतों की पूजा की थी । उन्होंने नरमांस-भोजी तथा अन्य रौद्र जातियों का भी स्तवन किया था । जिससे वे उनके प्रिय पुत्र का वन में अनिष्ट न करें ।

रामायण के उत्तरकाण्ड में शिव को भी भूतपति कहा गया है अर्थात् वे सभी अपार्थिव, अनिष्टकारी तत्वों के अधिपति हैं ।[1] हनुमान ने भी समुद्र पार होने के पहले सभी भूतों को अंजलि प्रदान की थी । इससे पता लगता है कि रामायणकाल में धार्मिक विश्वास केवल शुभावह देवताओं की पूजा करने में ही नहीं था, अपितु अनिष्टकारी तत्वों को प्रसन्न करना भी तात्कालिक धार्मिकता का ही एक रूप था ।

पितृ-पूजा

आर्य-जाति आरम्भ से ही परलोक में विश्वास करती रही है । लोक और परलोक की विभाजक रेखा मृत्यु थी, जो अत्यन्त अनिवार्य मानी गयी थी । मृत्यु के अनन्तर

1- रामायण ७/१६/४४ ।

मृत शरीर का संस्कार किया जाता था और यह कल्पना की गयी थी कि लोग कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में जाते हैं । किसी व्यक्ति का अन्त्येष्टि-संस्कार करना पुण्य का कार्य समझा जाता था ।

रामायण में अन्त्येष्टि संस्कार का कई स्थलों पर वर्णन आया है । रामायण-कालीन यह संस्कार प्रायः आज के समान ही था, किन्तु अस्थि-संचय की क्रिया तेरहवें दिन की जाती थी ।[1] रामायण में दशरथ, बाली और रावण --- इन तीन राजाओं के वैभवशाली अन्त्येष्टि-संस्कार का वर्णन मिलता है, किन्तु इनमें केवल बाली को ही पुत्र की उपस्थिति में मरने का अवसर मिला । यद्यपि दाह-संस्कार का अधिकारी पुत्र ही था, किन्तु कभी-कभी शास्त्रानुसार अन्य लोग भी अन्त्येष्टि-संस्कार कर सकते थे । उदाहरणार्थ रावण के परिवार में कोई नहीं बचा था इसलिए उसके भाई विभीषण ने अन्तिम संस्कार किया ।

पूर्वजों की पूजा श्राद्ध और तर्पण के रूप में रामायण-काल में की जाती थी । हाल में परलोक वासी हुए पूर्वज को "प्रेत" कहा जाता था और बहुत दिन पहले मरे हुए लोगों को "पितर" कहते थे । प्रेतों के लिए प्रेत-कार्य तथा श्राद्ध किये जाते थे जबकि पितरों के लिए दैनिक तर्पण और वार्षिक श्राद्ध होते थे । पितरों को देवता की प्रतिष्ठा देकर अन्य देवताओं के साथ यज्ञ-भाग का अधिकारी माना जाता था ।

इस सन्दर्भ में वाल्मीकि गया-श्राद्ध का भी महत्व दिखाते हैं । प्रत्येक पिता की कामना अनेक पुत्र प्राप्त करने की इसीलिए होती थी कि उनमें से कोई एक भी तो गया की यात्रा करेगा और पिता का नरक से उद्धार करेगा ।[2]

१- रामायण २/७७/४-५ ।
२- वही २/१०७/१३ ।

शकुन में विश्वास

आर्य-जाति कई लोकोत्तर तत्वों में विश्वास करती रही है । उसकी मान्यता है कि ये लोकोत्तर तत्व लौकिक पदार्थों के रूप में आकर मानवों को आगामी समय की सूचना देते हैं । ये सूचनाएँ प्रतीकात्मक होती हैं तथा विभिन्न जातियों में इनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की जाती है । लौकिक तत्वों के रूप में दिखायी पड़नेवाले इन संकेतों को शकुन और अपशकुन कहा जाता है । उत्कृष्ट भविष्य की सूचना शकुनों से मिलती है जबकि अपशकुन निकृष्ट भविष्य की सूचना देते हैं । इन शकुनों और अपशकुनों में लोगों का विश्वास इतना दृढ़ था कि सामान्य लोग उनके आदेश पर कार्य करते थे । कभी लोग इनकी उपेक्षा करते थे ।

रामायण में भी कार्य की सिद्धि और असिद्धि का पूर्वाभास देनेवाले निमित्तों की चर्चा की गयी है । शरीर के अवयवों के स्फुरण, स्वप्न, पक्षियों का दिखायी पड़ना या उनकी ध्वनि सुनना निश्चय ही भावी सुख-दुःख का सूचक है ।[1] राम को शीघ्र युवराज बनाने का आयोजन दशरथ ने इसलिए किया था कि उन्हें मृत्यु या किसी घोर अनिष्ट के सूचक अपशकुन दिखायी पड़ने लगे थे । इसी प्रकार मारीच-वध के बाद पंचवटी लौटते हुए राम को भी कई अशुभ निमित्त दिखायी पड़े । कौवे की ध्वनि कभी अशुभ और कभी शुभ दोनों संकेत देती थी । युद्ध में शृगालों का दिखायी पड़ना अशुभ सूचक था ।

रामायण में शुभ शकुनों की अपेक्षा दुर्निमित्तों अथवा उत्पातों का ही अधिक उल्लेख हुआ है । इनमें प्रकृति जीवन, पशु-जगत्, मनुष्य के शारीरिक विकार और मनः

१- रामायण ३/५२/२ । निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम् ।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥

स्थिति पर आश्रित शकुनों एवं अपशकुनों का वर्णन मिलता है । बायीं आँख का फड़कना पुरुषों के लिए अपशकुन था, तो स्त्रियों के लिए शुभ निमित्त था । सूर्य का निर्मल होना, मन्द वायु का चलना, वनों का फलों और पुष्पों से अलंकृत होना -- ये सभी शुभ शकुन थे ।

इसी प्रकार स्वप्नों में भी भावी जीवन के शुभ और अशुभ होने का संकेत मिलता था । यह लोकमान्यता रामायण-काल के धार्मिक विश्वासों से जुड़ी हुई थी ।

रामायण-काल के धर्म-दर्शन की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि उपासना और यज्ञ-याग की वैदिक पद्धति के साथ-साथ मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन भी होने लगा था । वैदिक काल की हव्य सामग्री में पुष्प, गंध, अन्न आदि भी जुड़ गये थे और यह माना जाने लगा था कि किसी मनुष्य के उपास्य देवगण भी वह भोजन करते हैं जो वह मनुष्य करता है । रामायण में आसन, प्राणायाम, ध्यान, योग, समाधि तथा अन्य अनेक प्रकार के साधनों का बहुधा उल्लेख हुआ है । धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत पवित्रता, वेदों का अध्ययन, ब्राह्मणों तथा अन्य दान योग्य व्यक्तियों को दान देना, अतिथि-सेवा करना, तथा पितरों की पूजा करना -- ये मुख्य कार्य थे । उपासना के क्षेत्र में रामायण-युग में बहुत बड़ी उदारता दिखायी पड़ती है । उत्तरवर्ती युग में जो सम्प्रदायवाद का उद्‌भव हुआ, उसका प्रश्न रामायण में नहीं उठता ।

वैराग्य का वातावरण भी जहाँ-तहाँ उपस्थित था । विभिन्न कोटियों के निवृत्ति मार्गी ऋषियों के अतिरिक्त सामान्य धार्मिक जीवन जीनेवाले स्त्री-पुरुष भी अपने कार्यों में निवृत्ति मार्ग या वैराग्य के लक्षण प्रकट करते थे । यद्यपि रामायण में तापस और

ब्रह्म -- इन दो कोटियों के तपस्वियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु इस ग्रन्थ से इनका सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट नहीं होता । इन वर्गों में स्त्रियाँ भी होती थीं । भिक्षु और भिक्षुणी का भी वर्णन रामायण में मिलता है ।[1] मोक्ष का प्रचार प्रत्यक्षतः तो नहीं किया गया है, किन्तु जहाँ-तहाँ संकेत मिलते हैं कि लोग इसके लिए प्रयास करते थे । ब्रह्मलोक की प्राप्ति सामान्यतः मानवों का लक्ष्य बतलायी गयी है ।[2] तापस-जीवन की परिणति समस्त भौतिक सुखों के सर्वथा परित्याग में और आत्मा के निरन्तर चिन्तन में होती है ।[3]

इस प्रकार रामायणकालीन धर्म-दर्शन के मुख्य प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है ।

१- रामायण २/२९/१२, ४/३/२ ।

२- वही १/३३/१६, २/१९/१२, ३/५/२८ इत्यादि ।

३- वही २/६०/२२ ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

अध्याय ७

रामायणकालीन राजनीति-दर्शन

राज्य का महत्त्व तथा विकास -- राजा का चयन -- ज्येष्ठ पुत्र का स्थान -- अराजकता की स्थिति -- आदर्श राजा की कल्पना -- राजा के दोष और गुण -- राज्यांगों का महत्त्व -- मंत्रिपरिषद् -- विदेशों से सम्बन्ध -- षाड्गुण्य --राजा-प्रजा-सम्बन्ध ।

::::
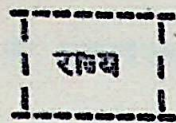
राज्य मानव-सभ्यता के विकास का प्रकाशन करनेवाली एक विशिष्ट संस्था है । समाज तब तक सुव्यवस्थित नहीं हो सकता, जब तक राज्य उसकी रक्षा का भार न ले ले । राज्य समस्त मानवीय सम्बन्धों का मूल है । व्यक्तियों का परस्पर व्यवहार तथा समाज के प्रति उनके उत्तरदायित्वों का निर्वाह राज्य के द्वारा ही प्रतिष्ठित और व्यवस्थित होते हैं । समाज और व्यक्ति की यह बौद्धिक आवश्यकता है कि राज्य के रूप में उनका नियंत्रण करनेवाली एक सर्वोपरि संस्था वर्तमान हो । राज्य का संचालक राजा होता है । जिसके पास बहुत बड़ी शक्ति केन्द्रित रहती है । शक्ति के इसी केन्द्रीकरण के कारण चार्वाकों ने राजा को ही परमेश्वर कहा है ।[1] किसी स्थान में राजा का चयन ही राज्य-संस्था की स्थापना का सूचक था ।

राज्य क्यों बना ? इस विषय पर सभी प्राचीन ग्रन्थकार एक मत हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवताओं ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और एकमत से राजा का चुनाव किया ।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि राजा के अभाव में बलवान दुर्बल को उसी प्रकार खा देता है जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को[3]। रामायण में भी इस मत्स्य न्याय की चर्चा हुई है कि राजा के न रहने पर किसी भी मनुष्य की अपनी कोई वस्तु नहीं रह जाती जैसे एक मत्स्य दूसरे को खा जाते हैं उसी प्रकार

१- माधवाचार्य- सर्वदर्शन-संग्रह, पृ० ९ - लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः ।

२- ऐतरेय ब्राह्मण १/१४ ।

३- शतपथ ब्राह्मण ११/६/२४ ।

अराजक देश के लोग एक दूसरे को खाते अर्थात् लूटते, खसोटते रहते हैं।[1] राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की व्यवस्था का वर्णन मत्स्य न्याय की सहायता से कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तथा व्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व में भी किया है।[2] मनुस्मृति में भी इस स्थिति का निरूपण किया गया है।[3]

राज्य की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार रामायणकार भी भारतीय मत से सहमत हैं कि दुर्बल पर अत्याचार न हो इसलिए राजा को सर्वोपरि बनाकर राज्य के अध्यक्ष के रूप में स्थापित किया गया। राज्य का मुख्य अंग भारतीय राजनीति में राजा को ही माना गया है, क्योंकि इसी को आधार मानकर सारे राजनीतिक सम्बन्ध प्रवृत्त होते हैं।

रामायण में किसी गणतंत्र का उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए तात्कालिक शासन-व्यवस्था मर्यादित राजतंत्र के रूप में थी। विधिपूर्वक स्थापित शासक के द्वारा संचालित शासन व्यवस्था में जनता का सुदृढ़ विश्वास था। स्थायी शासन व्यवस्था के अभाव में होने-वाली अराजकता के दोषों से प्रजा परिचित थी।

राजा का चयन

राजतंत्र शासन-व्यवस्था में राजा का पद कुल परम्परा से ही चलता है। रामायण में इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं का वर्णन है। इससे पता लगता है कि राम से कई पीढ़ियाँ पहले और उनके बाद भी राजपद आनुवंशिक रूप से ही चल रहा था।

१- रामायण २/६७/३१। न राजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥

२- अर्थशास्त्र १/४/१३, महाभारत - शान्तिपर्व, १५/३० ।

३- मनुस्मृति ७/२० ।

किन्तु एक राजा के कई पुत्रों में किसी एक की नियुक्ति राजा के पद पर होती थी। यह बात नहीं थी कि राज्य का विभाजन उन पुत्रों में कर दिया जाए। नये राजा की नियुक्ति के लिए सभा की अनुमति आवश्यक थी। भावी राजा का प्रस्ताव पहले वर्तमान राजा के द्वारा और मंत्रिमंडल के द्वारा किया जाता था। राम को युवराज बनाने का प्रस्ताव दशरथ ने रखा था।[1] राजा दशरथ ने अपने व्यक्तिगत विचार को सचिवों के सामने रखा।[2] इसके अनन्तर राजा ने लोकसभा का आवाहन किया जिसमें विभिन्न नगरों में निवास करनेवाले प्रधान पुरुषों; जनपदों के सामन्त राजाओं तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित लोगों को भी आमंत्रित किया।[3] वाल्मीकि कहते हैं कि उन्होंने शीघ्रता के कारण केकय नरेश तथा मिथिलापति जनक को नहीं बुलवाया इससे संकेत मिलता है कि दशरथ ने न केवल अपने राज्य के लोगों को बुलाया था अपितु अपने मित्र राज्यों के राजाओं को भी आमंत्रित किया था। वे सभी राजा ही थे।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नये राजा को युवराज बनने के पहले ही अधीनस्थ सामन्तों तथा पड़ोसी राजाओं के द्वारा भी स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। बाली की अनुपस्थिति में मंत्रियों ने मिलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था।[5] उत्तरकाण्ड में राजा नृग ने प्रजाजनों, नैगमों, मंत्रियों तथा पुरोहित को बुलाकर उनके समक्ष अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया था।

१- रामायण २/१/१५-२० ।

२- वही २/१/४२ ।

३- वही २/१/४६ ।

४- वही २/१/५० ।

५- वही ४/८/२१ ।

पुनः चित्रकूट में भरत ने राम से निवेदन किया था कि आप यहीं प्रजाओं, ऋत्विजों और पुरोहित के साथ अपना अभिषेक करा लीजिये ।[1]

ये सभी उदाहरण तात्कालिक राजनीति-दर्शन के एक विशिष्ट पक्ष की ओर संकेत करते हैं । वह यह है कि शासन व्यवस्था राजतंत्र की भले ही हो, किन्तु उसमें लोकतंत्र का अंश अवश्य रहना चाहिए । चार्वाकों ने जो लोकसिद्ध राजा को परमेश्वर कहा है उसमें भी यही दृष्टि है । राजा का पुत्र ही क्यों न हो, किन्तु जब तक वह शासित होनेवाले लोगों के द्वारा स्वीकार्य न हो, वह राजत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए रामायण में किसी अनधिकारी को राजा न बनाने का प्रतिपादन किया गया है । अधिकारी का निरूपण न केवल राजा और उसके चुने हुए कुछ मंत्री करते थे, अपितु प्रजा वर्ग के महत्वपूर्ण पुरुष भी अधिकारी होने का निर्णय देते थे ।

ऐसा सम्भवतः इसलिए किया गया था कि राजा प्रजा पर आरोपित न हो, और अत्याचार न करें । इसलिए यद्यपि राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज के पद का अधिकारी होता था, किन्तु उसका गुणी और धर्मात्मा होना भी आवश्यक था । अयोग्य और दुष्ट होने पर ज्येष्ठ पुत्र को अधिकार से वंचित किया जाता था । राम को युवराज पद दिये जाने का समर्थन लोकसभा ने मुक्तकण्ठ से किया था तथा राम के अनेकानेक गुणों का वर्णन करके दशरथ के प्रस्ताव की पुष्टि की थी ।[2] यहाँ विशिष्ट प्रसंग में भले ही प्रजा ने सारे विशेषताओं और गुणों को राम में मिलाया हो, किन्तु इससे इतना संकेत

१- रामायण २/१०६/२६ ।

इहैव त्वामभिषिंचन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मंत्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥

२- रामायण २/२/२८-४८ ।

अवश्य मिलता है कि प्रस्तावित राजा में राज्य संचालन की क्षमता, व्यक्तिगत गुण और लोकप्रियता अवश्य रहनी चाहिए ।

रामायण में कई ऐसे संकेत मिलते हैं जहाँ प्रजा के आग्रह पर ज्येष्ठ पुत्र को राज्य से वंचित किया गया । राजा सगर ने अपने अत्याचारी पुत्र असमंज को राज्य से निर्वासित कर दिया । राजा ययाति ने अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पुरु को राज्य दिया । पुत्र के अभाव में भाई को भी युवराज बनाया जाता था । राम को राज्याभिषेक के समय भरत को युवराज बनाया गया क्योंकि उस समय तक राम को पुत्र नहीं था । राजा की मृत्यु हो जाने पर युवराज पद पर अभिषिक्त किया गया राजकुमार ही राजा बनता था । किसी राजा के जीवन-काल में भी युवराज पद पर अभिषिक्त करने का उद्देश्य यह था कि राजा की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार विषयक विवाद न खड़ा हो और राजसिंहासन खाली न रहे । उस समय युवराज के राज्याभिषेक के लिए सभा की पुनः अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं थी ।

इस व्यवस्था का प्राचीन भारत में तो पालन होता था किन्तु मध्यकाल में इसकी उपेक्षा होने लगी थी इसीलिए राजाओं की मृत्यु के बाद विवाद होने लगे थे । इसलिए रामायणकालीन राजनीति दर्शन में किसी प्रकार के विवाद को खड़ा न होने देना विशेष उद्देश्य था । फिर भी विवाद के कारण कहीं-कहीं रह ही जाते थे ।

रामायण में यह स्थिति भी दिखायी गयी है कि ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य न हो और फिर भी उसे राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया हो तो विवाद उठ सकता है । इसका दृष्टान्त राम के युवराज पद को कैकेयी द्वारा बलपूर्वक छीने जाने में मिलता

है । राम के यौवराज्याभिषेक के प्रति सभी सभासदों का समर्थन होने पर भी और उसके लिए पूरी तैयारी कर लिये जाने पर भी कैकेयी दशरथ से वरदान माँग लेती है, जो एक प्रकार से निषेधाधिकार का प्रयोग है । वह भरत को युवराज बनाना चाहती है । कहना कठिन है कि इस प्रकरण में सभासदों की क्या प्रतिक्रिया होती, किन्तु ज्येष्ठ पुत्र अपने अधिकार के लिए तीन उपायों में से किसी एक का आश्रय ले सकता था ।[1]

इनमें सबसे पहला उपाय लक्ष्मण ने राम को सुझाया था कि राजा को मार कर या बन्दी बनाकर राज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया जाए ।[2] कौशल्या भी इस प्रस्ताव का मौन समर्थन दे रही थी, किन्तु राम ने इस क्षत्र-धर्म को आश्रित न करके पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया । यहाँ यह ध्यातव्य है कि राम ने लक्ष्मण के सुझाव को क्षत्र-धर्म अर्थात् क्षत्रियों की परम्परा के रूप में माना था ।

दूसरा उपाय स्वयं दशरथ के द्वारा बतलाया गया था । उन्होंने राम से कहा कि कैकेयी को वरदान देने के कारण मेरी बुद्धि मारी गयी है, अतः मुझे बन्दी बनाकर तुम अयोध्या के राजा बन जाओ ।[3]

तीसरा उपाय प्रजा के सहयोग पर आश्रित था । यदि राजकुमार लोकप्रिय हो तो उसके मंत्री, सेना और नागरिक राजधानी छोड़कर उसके साथ अन्यत्र जा सकते थे और नया राज्य बसा सकते थे । इन उपायों का प्रचलन रामायण काल में अवश्य था तभी तो इनकी चर्चा राम के प्रसंग में की गयी है ।

१- डा० शान्तिकुमार व्यास - रामायणकालीन समाज, पृ० २५१ ।

२- रामायण २/२१/१२-१३ । प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या सन्तुष्टो यदि नः पिता ।
अमित्रभूतो निःसंग वध्यतां बध्यतामपि ॥

३- रामायण २/३४/२६ ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

राजा की आकस्मिक मृत्यु होने पर नये राजा के चुनाव का प्रबन्ध मंत्रि-परिषद् के सदस्य करते थे । इन्हें "राजकर्त्तारः" कहा गया है ।[1] दशरथ की मृत्यु होने पर इन्हीं राजकर्त्ताओं ने मिलकर तत्काल भरत को बुलाने का निश्चय किया था । भरत ने वस्तुतः राजा का भार नहीं ग्रहण किया अपितु चौदह वर्ष तक राज्य को एक न्यास मानकर एक प्रबन्धक का कार्य किया था ।

चूँकि राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी और प्रजा का आराध्य था इसलिए प्रजा यह अपेक्षा रखती थी कि उसमें सर्वाधिक गुण विराजमान हों । उसका व्यक्तित्व आकर्षक हो तथा वह सभी मानवीय सद्‌गुणों का भण्डार हो । राजा के गुणों का वर्णन वाल्मीकीय रामायण में कई स्थलों पर मिलता है ।[2]

राजा में अपेक्षित गुणों के साथ-साथ उसके लिए त्याज्य दुर्गुणों का भी निरूपण इस ग्रन्थ में मिलता है । उदाहरणार्थ बाली कहता है कि राजाओं को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए । वे नीति, विनय, दण्ड और अनुग्रह का अविवेकपूर्वक उपयोग न करें ।[3] राजाओं को अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए । लक्ष्मण ने राम से कहा था कि एक के अपराध से अनेक का संहार करना उचित नहीं है ।[4] राजाओं को धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और काम के सेवन में नहीं लगना चाहिए । राजा को राज्य के काम में प्रतिदिन लगा रहना चाहिए । उसे न्यायपरायण और लोकप्रिय बनने का प्रयास करना चाहिए ।

प्रजा का राजा में अपूर्व विश्वास होता है इसलिए राजा राज्य को छोड़कर

१- रामायण २/६७/२ ।
२- वही १/१/२-४ , १/१/८-१९, ५/३५/८-११, २/२/२८-४७ ।
३- वही ४/१७/३२ ।
४- वही ३/६५/८ नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि ।

तबतक नहीं आ सकता था जबतक शासन-संचालन की समुचित व्यवस्था न कर आयें । गंगावतरण के आख्यान में कहा गया है कि राजा भगीरथ तपस्या के लिए वन जाने लगे तब राज्य का प्रबन्ध मंत्रियों को समर्पित कर गये । इसी प्रकार शम्बूक की खोज में जाने के पहले राम ने लक्ष्मण और भरत पर अयोध्या का राज्यभार रख दिया था । युवराज भी राजा की आज्ञा के बिना नगर नहीं छोड़ सकते थे ।[1] राजा भी जब पुत्र को राज्य का भार देकर अवकाश ग्रहण करना चाहते थे तब इसके लिए सभा से उन्हें अनुमति लेनी पड़ती थी ।

रामायणकालीन राजनीति-दर्शन का विवेचन करने के लिए अयोध्याकाण्ड के दो सर्ग बड़े महत्वपूर्ण हैं । इनमें एक सर्ग है --६७वाँ सर्ग, जिसमें राजा के अभाव में आनेवाले संकटों का वर्णन है और दूसरा स्थल है -१०० वाँ सर्ग जिसमें राजाओं के अपेक्षित आचार-व्यवहार का वर्णन है । इन दोनों सर्गों का यहाँ समुचित अनुशीलन अपेक्षित है ।

अराजकता की स्थिति

दशरथ की मृत्यु हो जाने पर अयोध्या सर्वथा राजविहीन हो गयी । राम-लक्ष्मण वन में चले गये थे और भरत शत्रुघ्न अपने नाना के घर केकय देश में थे । इस स्थिति में राजपुरोहित वशिष्ठ से मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप आदि ऋषियों ने पृथक्-पृथक् रूप से अपनी बातें कहीं किन्तु उन सबों का एक मत था कि आज ही यहाँ का कोई राजा बनाया जाए अन्यथा राष्ट्र का विनाश हो जायेगा ।[2]

१- रामायण २/१००/४ ।

२- वही २/६७/८ अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

इसके बाद इन ऋषियों ने अराजकता के दुर्गुणों को गिनाना आरम्भ किया। जहाँ कोई राजा नहीं होता ऐसे जनपद में सर्वप्रथम प्राकृतिक प्रकोप होता है । न वर्षा होती है, न खेतों में बीज बोये जाते हैं । फल यह होता है कि कृषि का विनाश हो जाने से दुर्भिक्ष पड़ता है । दुर्भिक्ष का साक्षात् फल है -- अशान्ति और अव्यवस्था । तभी कहा गया है कि राजा से रहित पुत्र पिता के वश में नहीं रहता और स्त्री पति के वश में नहीं रहती । ऐसे प्रदेश में कोई भी धन अपना नहीं हो कहा जा सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति उस धन को छीन नहीं सकता है । यहाँ तक कि पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती है ।[1] वाल्मीकि स्पष्टतः स्त्रियों के इस स्वभाव की ओर संकेत कर रहे हैं कि धन के अभाव में स्त्रियाँ पति को छोड़कर चली जाती हैं ।

ऋग्वेद-संहिता में अक्षसूक्त के अन्तर्गत पराजित जुआरी के पश्चाताप का ऐसा ही चित्रण किया गया है । उसका कोई मित्र नहीं होता, उस व्यक्ति की पत्नी भी उसे घर से निकाल देती है । इतना ही नहीं वह रोता है कि जुआ में पत्नी को हार जाने कारण उसकी पत्नी का आलिंगन दूसरे लोग करेंगे । पिता, माता और भाई उसके विषय में कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते ,इसे बाँध कर ले ते जाओ ।[2] यह स्थिति अराजकता के कारण ही होती है क्योंकि राजहीन देश में लोग नाना प्रकार के व्यसन अपनाते हैं । वाल्मीकि इसीलिए कहते हैं कि जब पति-पत्नी आदि का सत्य सम्बन्ध नहीं रह सकता तब कोई दूसरा सत्य वहाँ कैसे ठहर सकता है ? यह अराजकता देश का महान् संकट है ।

१- रामायण २/६७/११ । अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।

२- ऋग्वेद संहिता १०/३४/४ ।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः ।

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥

जहाँ कोई राजा नहीं रहता, वहाँ नागरिकों के क्रिया-कलाप भी व्याहत हो जाते हैं। न कोई सभा भवन बनाया जा सकता और न धर्मशाला, मन्दिर, उद्यान आदि के निर्माण का ही प्रश्न अराजक देश में उठता है। आज के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि अस्थायी सरकार होने से कोई भी विकास कार्य नहीं हो पाता क्योंकि राजा की उपस्थिति का भान ही वहाँ नहीं होता।

वाल्मीकि की दृष्टि धार्मिक क्रिया-कलापों पर भी गयी है। अराजक जनपद में यज्ञ-यागों का अनुष्ठान नहीं हो सकता। यदि संयोगवश कोई महायज्ञ आरम्भ भी हो गया हो तो उसमें ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा लोग नहीं देते। उन्हें भय रहता है कि हमें धनी समझ कर तस्कर लोग लूट लेंगे। राष्ट्र को प्रगतिशील बनानेवाले उत्सव और समारोह नहीं होते। नटों और नर्तकों को अपनी कला का प्रदर्शन करने का अवसर नहीं मिलता। वे कलाकार अपनी कला को छोड़कर दूसरे अरुचिकर कार्यों में लग जाते हैं। परिणामतः राष्ट्र सांस्कृतिक परम्परा से वंचित रह जाता है। इसी प्रकार कथा सुनने की इच्छा वाले लोग अशान्त होने के कारण पौराणिकों की कथाओं से प्रसन्न नहीं होते। अराजक राज्य में व्यापारियों को सफलता नहीं मिलती। धनी लोग सुरक्षित नहीं रह पाते। कृषि और गोपालन से जीवन-निर्वाह करनेवाले वैश्य लोग दरवाजे खोलकर (निर्भीक होकर) सो नहीं पाते। चोरों, लुटेरों और उचक्कों का भय सर्वत्र व्याप्त रहता है। इन तथ्यों से यह सूचना मिलती है कि राजा के रहने पर ये सारे कार्य सुचारु रूप से चलते रहते हैं।

राजा के द्वारा व्यवस्थित जनपद में कुमारी स्त्रियाँ सोने के आभूषणों से

विभूषित होकर सायंकाल में उद्यानों में क्रीड़ा करने के लिए जाती हैं । इसी प्रकार कामी पुरुष भी नारियों के साथ शीघ्रगामी वाहनों पर वन विहार के लिए निकलते हैं, किन्तु राजा से रहित राज्य में उनके सारे क्रिया-कलाप समाप्त हो जाते हैं ।[1] लोगों को वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर उत्तम घोड़ों तथा रथों पर सहसा यात्रा करने का साहस नहीं होता । जब भी यात्रा करनी होती है ,तब उसके लिए पूरी तैयारी करनी पड़ती है । दूर-दूर तक व्यापार करने वाले वणिक् भी पण्य वस्तुओं को साथ लेकर कुशलपूर्वक मार्ग पार नहीं कर पाते क्योंकि उन्हें लूटने का भय रहता है ।

प्राचीन भारत में निवृत्ति मार्गी, जितेन्द्रिय परिव्राजक जहाँ-तहाँ घूमते थे और जहाँ संध्या हो, वहीं रह जाते थे । वे परमात्मा का ध्यान करते थे । अराजक जनपद में ऐसे लोग नहीं घूमते क्योंकि वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा रहता है। संन्यासियों को भोजन देनेवाला कोई नहीं मिलता । अराजक जनपद में पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा का तो कोई प्रश्न ही नहीं है । इसी प्रकार शास्त्रों के विशिष्ट विद्वान् वनों और उपवनों में शास्त्रों की व्याख्या करते हुए अब ठहर नहीं पाते । उन्हें अन्न, वस्त्र की चिन्ता लगी रहती है, निश्चिंत होकर शास्त्र-चिन्तन वे नहीं कर सकते ।

राजा से रहित जनपद पर यदि किसी शत्रु का आक्रमण हो जाए तब तो ईश्वर ही बचाये । सेना रहती है, किन्तु राजा के अभाव में उसका समुचित संचालन नहीं होता । परिणामतः वह शत्रुओं का सामना नहीं कर पाती । वाल्मीकि अपने युग से आगे देखनेवाले क्रान्तदर्शी महर्षि थे । उनके उपर्युक्त वाक्यों में भारतवर्ष के इतिहास की

१- रामायण २/६७/१० तथा १८ ।

व्याख्या है । अराजक राष्ट्र की तुलना उन्होंने जलविहीन नदी, तृण विहीन वन और गोपालक विहीन गौ से की है । उन्होंने राजा को राज्य का प्रतीक कहा है । वस्तुतः राजा का प्रताप ही समस्त शासन सूत्र का संचालक है जिससे अभिभूत होकर सारा राष्ट्र अपने नियत कर्मों में लगा रहता है ।

राजा के रहने पर जो नास्तिक लोग वेद-शास्त्रों की और अपनी-अपनी जाति के लिए नियत मर्यादा को राजदण्ड के भय से भंग नहीं करते वे ही अब राजा के अभाव में निःशंक होकर अपना प्रभुत्व प्रकट करने लगेंगे । इस प्रकार राजा राज्य के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना शरीर के लिए नेत्र । वह राज्य के भीतर सत्य और धर्म का प्रवर्तक होता है ।[1] वाल्मीकि ने राजा में चार देवताओं की संयुक्त शक्तियों का निरूपण किया है । राजा अपने महान् चरित्र से यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण से भी बढ़ जाता है ।[2] यहाँ आदि कवि का तात्पर्य यह है कि यमराज केवल दण्ड देते हैं, कुबेर केवल धन देते हैं, इन्द्र केवल पालन करते हैं और वरुण केवल सदाचार में नियंत्रित करते हैं । एक श्रेष्ठ राजा में ये चारों गुण वर्तमान होते हैं । इसलिए वह इन देवताओं की पृथक्-पृथक् शक्ति से आगे बढ़ जाता है ।

सम्पूर्ण विवेचन का सार यह हुआ कि यदि संसार में साधु-असाधु का विभाग करनेवाला राजा न हो तो यह सारा जगत् अन्धकार से आच्छन्न हो जायेगा, कुछ भी नहीं दिखायी पड़ेगा । इस प्रकार अराजकता का विस्तृत वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने राजा के महत्त्व का और परोक्षतः आदर्श राज्य की अवस्थाओं का चित्रण किया है ।

१- रामायण २/६०/३१ । यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ।

२- वही २/६०/३५ । यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

आदर्श राजा की कल्पना

राम ने चित्रकूट में भरत को आये हुए देखकर जो विस्तृत कुशल प्रश्न पूछा उसमें आदर्श राजा की कल्पना निहित है । राजा को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसका विस्तृत उपदेश राम ने कुशल प्रश्न के व्याज से किया है ।

इन प्रश्नों के आरम्भ में तो व्यक्तिगत और पारिवारिक प्रश्न हैं कि पिता की आज्ञा के बिना तुम यहाँ कैसे आ गये ? पिताजी परलोकवासी तो नहीं हो गये ? बालक होने के कारण जो तुम्हें राज्य मिला तो वह नष्ट तो नहीं हो गया ? क्या माताएँ प्रसन्न हैं ? इत्यादि । इन प्रश्नों में राम की जिज्ञासा, आशंका और परिवार के प्रति कुतूहल अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु इसके बाद जो प्रश्न किये गये हैं, वे साक्षात् राजनीति से सम्बद्ध हैं ।

सर्वप्रथम राम राजा के धार्मिक कर्तव्यों का उपदेश करते हैं, तदनुसार गुरु, पुरोहित का सत्कार करना, ब्राह्मणों को अग्निहोत्र कार्य के लिए नियुक्त करना, समय पर हवन करना, देवताओं का सम्मान करना ऐसे ही धार्मिक कर्तव्य हैं । राम ने इन कार्यों की अपेक्षा भरत से की ।

राजा का दूसरा कर्तव्य है भृत्यों, परिजनों, वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणों का सम्मान करना ।[1] राजा को अपने व्यक्तिगत आचार्यों और अध्यापकों का भी समुचित सम्मान करना चाहिए । ऐसा न हो कि अहंकार के वश में होकर राजा अपने गुरुओं के प्रति उदासीन हो जाए या उनका तिरस्कार करने लगे ।

१- रामायण २/१००/१३ । कच्चित् देवान् पितृन् भृत्यान् गुरुन् पितृसमान अपि ।
वृद्धांश्च तातवैद्यांश्च ब्राह्मणांश्च चाभिमन्यसे ॥

मंत्रियों का चयन राजा का अन्य महत्वपूर्ण कर्तव्य है। मंत्रियों के विषय में यह देखना होता है कि वे शूर, वीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाह्य चेष्टाओं से ही मन की बात समझ लेनेवाले हों। राजाओं की सफलता का मूल कारण अच्छी मंत्रणा ही होती है, किन्तु वह तब ही सफल होती है जब नीतिशास्त्र में निपुण मंत्रीगण तथा अमात्य लोग उसे सर्वथा गुप्त रखें।[1] इस विषय में राम पूछते हैं कि तुम किसी गूढ़ विषय पर अकेला ही विचार तो नहीं करते अथवा बहुत लोगों के साथ बैठकर मंत्रणा तो नहीं करते। गुप्त मंत्रणा फूटकर शत्रु के राज्य में तो नहीं पहुँच जाती। यहाँ वाल्मीकि नीतिशास्त्रकारों की इस बात का निर्देश करते हैं कि मंत्रणा तो व्यक्तियों के बीच ही होती है। छठे कान में पहुँचते ही रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। इसलिए वैयाकरणों ने अषडक्षीणो मंत्रः ऐसा प्रयोग किया है।[2]

आदर्श राजा बहुत छोटे साधनवाले, किन्तु बहुत बड़े फलवाले कार्य का निश्चय करने के बाद उसे शीघ्र आरम्भ कर देते हैं। विलम्ब करने से उस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती।[3] ऐसे कार्यों का पता दूसरे राजाओं को तब ही लगना चाहिए जब कार्य पूरा हो जाए या पूरा होने के निकट आ जाए। भावी कार्यक्रम को दूसरे राज्य लोग न जान सकें, इसका पूरा-पूरा ध्यान आदर्श राजा को रखना चाहिए।[4] कभी-कभी

१- रामायण २/१००/१६ । मंत्रो विजय मूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मंत्रि धुरैः अमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।

२- काशिका ५/४/७ । अषडक्षीणो मंत्रः । यो द्वाभ्यामेव क्रियते नबहुभिः ।

३- रामायण २/१००/१९ ।

४- वही २/१००/२० । कच्चित्तु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवः ॥

दूसरे राजा किसी के विचारों को मंत्रियों के प्रकट न करने पर भी तर्कों और युक्तियों से जान लेते हैं । इसलिए शत्रुओं के विचारों को लक्षणों के द्वारा तथा युक्तियों से जानने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु अपनी मंत्रणा किसी भी स्थिति में प्रकट न हो यह ध्यान रखना चाहिए । इस प्रकार राजा की मंत्रणा शक्ति के विषय में राम ने अपने विचार प्रकट किये हैं ।

मंत्री राज्य का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग होता है, यदि एक भी मंत्री मेधावी, शूरवीर, चतुर और नीतिज्ञ मिल जाए तो वह राजा को बहुत बड़ी सम्पत्ति दिला सकता है । सहस्र मूर्खों के बदले एक पण्डित ही समय पर अधिक सहायक होता है । इसलिए मंत्री की क्रिया-बुद्धि मुख्य रूप से विचारणीय है । मंत्रियों के विषय में यह बात भी विचारणीय है कि वे अर्थ के लोभी न हों । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उपधाओं के द्वारा मंत्रियों की परीक्षा की बात उठायी है, इनमें धर्म, अर्थ, काम और भय की चार उपधाएँ होती हैं । इनसे अमात्य की परीक्षा गुप्त रूप से की जाती है ।[1] राम ने भी उपधा से अतीत मंत्रियों की नियुक्ति की अनुशंसा की है । उपधाओं से परीक्षित मंत्री राजा के हितकारी होते हैं ।[2] अमात्य संस्था भी आनुवंशिक होती थी । उत्तम कार्यों में उत्तम व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए इसलिए अमात्य ही श्रेष्ठ कार्यों पर स्थापित होते थे। राजा को यह देखना चाहिए कि राज्य की प्रजा कठोर दण्ड से उद्विग्न होकर मंत्रियों का तिरस्कार न करे ।

कुछ मंत्री राजा के राज्य को हड़पने की चिन्ता में लगे रहते हैं । वे साम,

---

१- कौटिल्य अर्थशास्त्र १/१०।

२- रामायण २/१००/२६ । अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन् ॥

दान आदि उपायों के प्रयोग में कुशल होते हैं, राजनीतिशास्त्र के पण्डित होने के कारण विश्वासी भृत्यों में फूट उत्पन्न कर देते हैं, ऐसे पुरुष को जो राजा नहीं मारता वह स्वयं उसके हाथ से मारा जाता है ।[1]

राम का ध्यान राज्य के अन्यतम अंग सैन्य पर भी गया है । इसलिए वे कहते हैं कि सदा सन्तुष्ट रहनेवाले शूर वीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान, पवित्र, कुलीन, अनुरक्त तथा दक्षकर्म दक्ष को ही सेनापति बनाना चाहिए । उन्हें राजा को उचित सम्मान देना चाहिए । सैनिकों को देने के लिए नियत वेतन और भत्ता समय पर बाँटा जाना चाहिए। विलम्ब से उनमें असन्तोष होता है । इससे अनर्थ हो सकता है ।[2]

आदर्श राजा सभी कर्मचारियों के प्रति प्रेम रखता है जिससे वे राजा के हित में प्राण त्याग करने के लिए उद्यत रहते हैं । राजदूत की नियुक्ति पर भी राम का ध्यान जाता है । राजदूत को अपने ही देश का निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली, यथोक्त-वादी और सद्-असद् का विवेक रखनेवाला होना चाहिए । राजा को तीन-तीन गुप्तचरों की सहायता से शत्रु-पक्ष के अठारह और अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों (मुख्य पद धारण करनेवाले व्यक्तियों) की परीक्षा करनी चाहिए । टीकाकारों ने अठारह तीर्थों में निम्नलिखित पदों को गिनाया है --(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) सेनापति, (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वेशिक, (७) (अन्तःपुर का अध्यक्ष), (८) कारागाराध्यक्ष, (९) कोषा-

---

1- रामायण २/१००/२८ । उपाय कुशलं वैद्यं भृत्य सन्दूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्य कामंच यो हन्ति न स हन्यते ॥

2- वही २/१००/३३ । कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

व्यय,(९) सन्निधाता (यथायोग्य कार्यों में धन व्यय करनेवाला सचिव),(१०) प्रदेष्टा (पहरेदारों को काम बतानेवाला),(११) नगराध्यक्ष(कोतवाल),(१२) कार्य-निर्माणकर्ता (शिल्पियों का परिचालक) ,(१३) धर्माध्यक्ष,(१४) सभाध्यक्ष,(१५) दण्डपाल,(१६) दुर्गपाल, (१७) राष्ट्रसीमापाल, तथा (१८) वनरक्षक ।[1] इन प्रथम तीन को छोड़कर शेष पन्द्रह तीर्थ अपने पक्ष के सभी परीक्षणीय हैं । शत्रुओं के तो अठारहों तीर्थों की परीक्षा करनी चाहिए । इससे शत्रुओं को छिन्न किया जा सकता है ।

राजा का कर्त्तव्य नास्तिकों से अपनी प्रजा की रक्षा करना भी है। ये लोग बुद्धि को परमार्थ की ओर विचलित कर देते हैं, ये मुख्य धर्मशास्त्र के होते हुए भी तार्किक बुद्धि का आश्रय लेकर व्यर्थ बकवास करते हैं । राजा अपनी राजधानी को सुरक्षित रखते हुए उसे आदर्श नगर के रूप में प्रख्यापित करता है । वहाँ के निवासियों में सभी अपने अपने कर्मों में लगे हुए हों, वहाँ बड़े भवन और मन्दिर शोभा बढ़ाते हैं । वहाँ धनशालाएँ, तड़ाग, यज्ञशालाएँ ,उपवन आदि बने रहते हैं । राजधानी के अतिरिक्त शेष राज्य भी कृषि से सम्पन्न होना चाहिए । वहाँ सिंचाई की पृथक् व्यवस्था होनी चाहिए । किसी को कोई भय न हो, पापियों का वहाँ अभाव हो ।

राजा को कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलानेवाले तथा व्यापार में लगे हुए लोगों पर प्रीति रखनी चाहिए, उनके प्रसन्न होने से संसार सुख पाता है ।[2] वैश्यों को इष्ट की प्राप्ति कराकर और उनके अनिष्ट का परिहार करके भरण-पोषण किया जाना चाहिए । राजा को वनों की सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए तथा पशुधन की वृद्धि करनी चाहिए । राजा के द्वारा सभी दुर्गों में धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यंत्र, शिल्पी और धनुर्धर सैनिक की भरपूर व्यवस्था करनी चाहिए ।

१- तुलनीय कौटिल्य अर्थशास्त्र १/१२ ।

२- रामायण २/१००/४७ ।

राजा को प्रजाओं के लिए अत्यन्त सुलभ नहीं होना चाहिए और दुर्लभ भी नहीं । अपने-अपने कार्यों में लगे हुए मनुष्य निर्भीक होकर राजा के पास पहुँच जायँ ऐसा भी उचित नहीं । यह भी ठीक नहीं कि प्रजाजन राजा से डरे हुए हों और दूर-दूर रहते हों । मध्यम स्थिति का अवलम्बन करना ही अर्थ सिद्धि का कारण होता है ।[1]

राजा को अपने राज्य के अर्थ के विषय में भी चिन्ता रखनी चाहिए । यह तो एक नियम होना चाहिए कि आय अधिक हो, व्यय कम (आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः)[2] यह ध्यान रखना चाहिए कि राजा के कोश का धन अनुचित कार्यों में या अपात्रों के हाथ में न चला जाए । राजधन का व्यय देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रों के लिए ही होना चाहिए । किसी निर्दोष पुरुष पर दोष लगाकर धर्मशास्त्र के विद्वानों से उसके विषय में विचार कराये बिना लोभवश आर्थिक दण्ड नहीं देना चाहिए । दूसरी ओर, जिसका दोष प्रमाणित हो गया हो ऐसे चोर को धन के लोभ से बिना दण्ड दिये छोड़ना नहीं चाहिए । विवाद की स्थितियों में उसका निर्णय धन आदि का लोभ छोड़-कर करना चाहिए । मिथ्या दोष लगाकर जिन्हें दण्डित किया जाता है उन मनुष्यों की आँखों से गिरनेवाले आँसू पक्षपाती राजा का सर्वनाश कर डालते हैं ।

राजनीति में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का बड़ा महत्व है । इसलिए राम समझाते हैं कि अर्थ के द्वारा धर्म को और धर्म के द्वारा अर्थ को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए । इसी प्रकार आसक्ति और लोभ के रूप काम के द्वारा धर्म और अर्थ को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए । समय का विभाजन करके राजा इन तीनों का योग्य समय में सेवन

१-रामायण २/१००/५२ । कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशंकया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥

२- वही २/१००/५४ ।

करे ।[1] राजा को सभी शास्त्रों के विचार में निपुण, ब्राह्मणों, पुरवासियों और जनपद-वासियों का आशीर्वाद लेना चाहिए । यह आशीर्वाद तभी मिल सकता था जब राजा दोषों को छोड़ दे और गुणों को ग्रहण करे । दोषों और गुणों की पृथक्-पृथक् गणना राम ने करायी है ।

राजा के दोष

राजा में चौदह दोष होते हैं ,जिन्हें छोड़ देने से ही वह प्रजा का प्रीति पात्र बनता है । वे हैं --नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध,प्रमाद,दीर्घसूत्रता,ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना, राज कार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, प्रयोजन को न समझनेवाले विपरीतदर्शी मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यों को शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मंत्रणा को सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, मांगलिक आदि कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक ही साथ चढ़ाई कर देना -- ये राजा के चौदह दोष हैं ।[2]

राजा के गुण

राजा के गुणों को प्रतीकात्मक और सूत्र रूप में राम ने उपस्थित किया है,जिनकी व्यापक व्याख्या टीकाकारों ने की है । राजा को राज्य के निम्नलिखित सभी विषयों पर ध्यान देना चाहिए । उसे "दसवर्ग" का त्याग करना चाहिए । दसवर्ग हैं -- आखेट,जुआ, दिन में सोना, परनिन्दा,ललना व्यसन, मद्यपान,नृत्य,गीत,वाद्य तथा व्यर्थ भ्रमण । राजा को पंचवर्ग पर ध्यान देना चाहिए । इन वर्गों में पाँच प्रकार के दुर्ग आते

१- रामायण २/१००/६२-६३ ।   २- वही २/१००/६५-६७ ।

शोभा कुमारी

हैं -- जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ऐरिणदुर्ग (ऊसरभूमि का किला) और धन्वदुर्ग। राजा को साम, दान, भेद और दण्ड इन चार वर्गों पर भी ध्यान देना चाहिए। राज्य के सप्तवर्ग, सुप्रसिद्ध सात राज्यांगों को कहते हैं। वे हैं --स्वामी, अमात्य, जनपद(राष्ट्र), दुर्ग, कोश, दण्ड(सेना) और मित्र।[1] इन्हें कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृति भी कहा है। राजा को इन पर भी विचार करना चाहिए। राजा के लिए अष्टवर्ग भी विचारणीय हैं। ये हैं --कृषि की उन्नति, व्यापारवृद्धि, दुर्ग निर्माण, सेतुनिर्माण, गज-संग्रह, खानों पर अधिकार, कर-संग्रह और निर्जन प्रदेश को जनसंकुल बनाना। पुनः त्रिवर्ग पर भी ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग हैं जबकि दूसरे लोग राजा की तीन शक्तियों को त्रिवर्ग मानते हैं -- उत्साह शक्ति, प्रभुशक्ति और मंत्रशक्ति।[2]

राजा तीन विद्याओं (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) पर ध्यान दें तथा बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें। राजनीति के छह गुणों को वह अपने व्यवहार में लाये -- वे हैं --संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय। इनका उपयोग दूसरे राजाओं के साथ किया जाता है। इन पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे। राजा दैवी और मानुषी बाधाओं पर समुचित ध्यान दे, जैसे आग लग जाना, बाढ़ आना, अकाल पड़ना, महामारी, अधिकारियों के लोभ से प्रजा को पीड़ा, चोर भय इत्यादि। विंशतिवर्ग पर भी राजा को समुचित ध्यान देना चाहिए। इसके अन्तर्गत बीस ऐसे व्यक्तियों को गिनाया गया है जो संधि के योग्य नहीं हैं जैसे बालक, वृद्ध, चिर रोगी, जातिच्युत, भीरु, विषयासक्त, निन्दक इत्यादि।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6/1।
2- वही 6/2 - शक्तिस्त्रिविधः - ज्ञानबलं, मंत्रशक्तिः, कोशदण्डबलं, प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः।

राम कहते हैं कि राजनीति शास्त्रीय विषयों में से हेय विषयों का त्याग और आदेय विषयों का ग्रहण करना राजा का गुण है। इस प्रकार धर्म के अनुसार दण्ड धारण करनेवाला विद्वान् राजा समूची पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लेता है तथा मृत्यु के बाद स्वर्ग पाता है।[1] इतना विस्तार राम ने भरत को इसलिए बतलाया कि भरत राजनीति में कुशल नहीं थे, जबकि राम इसका पूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे। यह स्थल वस्तुतः रामायण की काव्य-शैली में पाण्डित्य और शास्त्र-कौशल दिखानेवाला है। ऐसे स्थलों का अनुकरण बृहत्त्रयी के कवियों ने बाद में किया।

रामायण में केवल ये ही स्थल राजनीतिदर्शन का प्रकाशन करते हों, ऐसी बात नहीं। वास्तविकता तो यह है कि पूरा काव्य ही राजनीति की ग्रन्थियों से भरा हुआ है। राजनीति के केन्द्र अनेक स्थलों पर हैं। अयोध्या, किष्किन्धा और लंका तो राजनीति के गढ़ ही हैं, जहाँ क्रमशः आर्यजाति, वानर-जाति और राक्षस-जाति के राजनीति-दर्शन व्यवहार में लाये जाते हैं।

राज्यांग का महत्त्व

उपर्युक्त विवेचन में प्रसंगवश-क्रम के अनुरोध से राज्य के सात अंगों की चर्चा की गयी है। इनके विषय में वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में भी बहुत कुछ कहा गया है। वहाँ हनुमान सुग्रीव से कहते हैं कि आपने राज्य और यश तो प्राप्त कर लिया, किन्तु मित्रों का संग्रह करना अभी शेष है, उसे भी पूरा कर लें। जो व्यक्ति मित्रों के प्रत्युपकार का सही-सही समय जानता है उसके राज्य, यश और प्रताप

1- रामायण 2/100/76।

की वृद्धि होती है ।[1] जिस राजा के पास कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर -- ये सभी समवेत हैं वही विशाल राज्य का फल भोग सकता है ।[2] यहाँ राज्य के चार अंगों का ही वर्णन है । यह रामायण के बम्बई संस्करण का पाठ है । रामायण के उत्तर-पश्चिमीय संस्करण में पुर और जन को भी जोड़ कर ऐसा पाठ रखा गया है --

यस्य दण्डश्च कोशश्च मित्राण्यात्मा पुरजनः ।

पूर्णान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥

इस पाठ में राज्य के छः अंगों का उल्लेख है -- राजा, राष्ट्र (जन), नगर (दुर्ग), कोश, दण्ड और मित्र । अमात्य का इसमें भी अभाव खटकता है, किन्तु रामायण के अन्य प्रसंगों में अमात्य को भी महत्वपूर्ण बतलाया गया है । उदाहरणार्थ - मारीच रावण को सीता-हरण से रोकते हुए कहता है कि जिन अमात्यों ने आपको यह उपदेश दिया है, वे वध्य हैं ।[3] इस लिए यह कहना उचित नहीं होगा कि अमात्य को महत्वपूर्ण नहीं बतलाया गया है । वस्तुतः प्रस्तुत प्रसंग में हनुमान सुग्रीव को राजनीति में मित्र के महत्व से अवगत कराते हैं । राजनीतिक-मित्रता का राज्य-संचालन में बहुत महत्व होता है । इसलिए मित्र के कार्य में राजा को लग जाना चाहिए । जो मित्र की सहायता का समय बीतने पर उसका कार्य करता है, तो वह बड़े-बड़े कार्यों को सिद्ध करने के बाद भी मित्र के प्रयोजन से जुड़ा नहीं रह पाता ।[4] राजा का कर्तव्य है कि बिना प्रेरित हुए ही

१- रामायण ४/२९/१०-११ । यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ।
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते ॥

२- वही ४/२९/११ । यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥

३- वही ३/४१/५-७ ।

४- वही ४/२९/१४ ।

शोभा कुमारी

मित्र के कार्य में लग जाये । यदि मित्र को प्रेरणा देनी पड़ती है तो उसका अर्थ यह होता है कि उसके कार्य को हम समय पर नहीं कर रहे हैं ।[1]

राज्य के अंगों में राजा के बाद अमात्य का ही महत्त्व था । राजा को सभी कार्यों में, विशेषतः विजय यात्रा में मंत्रियों से परामर्श लेना चाहिए । युद्धकाण्ड में रावण अपने सचिवों की सभा में इस मंत्रणा का सम्यक् विश्लेषण करता है । वह कहता है कि सभी विजयों के मूल में उचित मंत्रणा ही होती है (मंत्रमूलं हि विजयम्)।[2] मंत्रणा-कार्य में तीन प्रकार के पुरुष होते हैं -- उत्तम पुरुष वह है जो मंत्र-निर्णय में समर्थ मित्रों, समान दुःख-सुख वाले बन्धुओं और उनसे भी बढ़कर अपने हितकारियों के साथ परामर्श करके कार्यारम्भ करता है तथा दैव के सहारे प्रयत्न करता है ।[3] मध्यम पुरुष वह है जो अकेला ही अपने कर्तव्य पर विचार करता है, अकेला ही धर्म में मन लगाता है और अकेला ही सब काम करता है । अधम पुरुष उसे कहते हैं जो गुण-दोष का विचार किये बिना दैव का भी आश्रय छोड़कर केवल आवेश में कार्यारम्भ करता है और बाद में उसकी उपेक्षा कर देता है । जिस प्रकार मंत्रणा करनेवाले पुरुष के तीन भेद होते हैं, उसी प्रकार मंत्र के भी तीन भेद कहे गये हैं ।

सभी मंत्री शास्त्रोक्त दृष्टि से एकमत होकर जिस मंत्र को कार्यान्वित करें उसे उत्तम मंत्र कहते हैं । मध्यम मंत्र वह है जहाँ प्रारम्भ में मंत्रियों का मतभेद हो, किन्तु अन्त में कार्य के विषय में सबका एक ही निर्णय हो । जहाँ भिन्न-भिन्न बुद्धि का आश्रय लेकर सभी ओर से स्पर्धापूर्वक भाषण दिया जाए और एकमत होने पर भी जिससे

१- रामायण ४/२९/१९ ।

२- वही ६/६/५ ।

३- वही ६/६/७-८ ।

कल्याण की सम्भावना न हो ऐसे मंत्र को अधम कहा जाता है ।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि मंत्रणा का राजनीति-दर्शन में कितना महत्त्व है । राजा सभी काम अपने मंत्रियों के परामर्श से ही करे । कर्तव्य के विषय में उन मंत्रियों में सहमति भी हो । इसलिए रामायणकार का यह विचार है कि राजा स्वेच्छा से कार्य न करे । यदि मंत्रियों से परामर्श न लेकर राजा निरंकुश हो जाता है तो वह अपने राष्ट्र और जनबल को ले डूबता है ।[2] यद्यपि अमात्य, सचिव और मंत्री शब्दों का रामायण में सामान्य रूप से समानार्थक प्रयोग किया गया है, किन्तु दशरथ की मंत्रिपरिषद् का वर्णन करते हुए वाल्मीकि यह स्पष्ट कर देते हैं कि मंत्री का काम परामर्श देना था जबकि अमात्य और सचिव राजा की नीतियों को कार्यान्वित करते थे । इन दोनों वर्गों से मंत्रि-परिषद् या मंत्रिमंडल निर्मित होता था । राम की सेना के कुछ लोगों को अमात्य कहा गया है ।[3] किन्तु उसी स्थान में आगे चलकर उन्हें मंत्री भी कहा गया है ।[4] इससे प्रतीत होता है कि इन शब्दों में सैद्धान्तिक अन्तर अवश्य था, किन्तु व्यावहारिक रूप से सामान्य बोलचाल में लोग अन्तर नहीं रखते थे ।

मंत्रिपरिषद्

राजा को परामर्श देने के लिए मंत्री की व्यवस्था तात्कालिक राज्यशास्त्र में की गयी थी । मंत्रियों की संख्या अधिक भी हो सकती थी । सबों को मिलाकर मंत्रिपरिषद् बनती थी । मंत्रिपरिषद् का कार्य अश्वमेध के समय, युवराज के कार्यवश बाहर भेजने के समय,

---

१- रामायण ६/६/१४ । अन्योन्यमतिमास्थाय यत्र सम्प्रतिभाष्यते ।
न चैकमत्ये श्रेयोऽस्ति मंत्रः सोऽधम उच्यते ॥

२- वही १/२०/६-७ । ३- वही ६/२०/७ । ४- वही ६/२०/१५ ।

युवराज के योग्य वधू का चुनाव के समय, सभा के समक्ष किसी प्रस्ताव को रखने के पूर्व, युद्ध-घोषणा के पूर्व तथा अन्य कठिन समस्याओं का समाधान करने के लिए राजा को समुचित परामर्श देना था ।[1] मंत्रिपरिषद् में दो प्रकार के सदस्य होते थे । एक तो गुरुजन कहलाते थे । वे सभी ब्राह्मण होते थे और उन्हें मंत्रिणः भी कहा जाता था । दूसरा वर्ग, अमात्य या सचिव का था, जो राज्य के कार्यों के अधिकारी थे । दशरथ के मंत्रिमण्डल में आठ व्यक्ति अमात्य थे क्योंकि वे सम्बद्ध विभागों का संचालन करते थे । मंत्रणा या परामर्श देने के कारण उन्हें मंत्री भी कहा जाता था । वसिष्ठ, वामदेव और जाबालि केवल मंत्री थे । उनका काम केवल मंत्रणा देना था, उन्हें राज्य-कार्य का अधिकार नहीं था । मंत्री लोग सम्भवतः स्थायी रूप से राजधानी में रहते नहीं थे । आपातस्थिति में या आवश्यक कार्यवश उन्हें बुलाया जाता था । राम के अपने शासन काल में तीन बार मंत्रियों को आहूत किया गया था । पहली बार यह अवसर तब आया जब एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को लेकर राजद्वार पर आया और अपनी इस विपत्ति का कारण राजा के दोषों को बतलाने लगा ।[2] उस समय राम ने पूरे मंत्रिमंडल को बुलाया जिसमें वसिष्ठ और वामदेव के साथ आठ अन्य मंत्री एवं नैगम भी आहूत हुए थे ।[3] दूसरी बार मंत्रिमंडल को बुलाने का अवसर अश्वमेध की तैयारी के समय आया और तीसरी बार सीता के पुनः ग्रहण के कठिन पर मंत्रणा के लिए उन्हें बुलाया गया ।

महाभारत के अनुसार मंत्रियों की संख्या तीन से कम नहीं होनी चाहिए ।[4]

१- डा० शान्तिकुमार व्यास - रामायणकालीन समाज, पृ० २०१ ।

२- रामायण ७/७३/१६ ।

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधि पालिताः ।

असद्वृत्ते हि नृपतावकालेम्रियते जनः ॥

३- रामायण ७/७४/२-५ । ४- महाभारत शान्तिपर्व ८३/४७ ।

रामायण में भी राम ने भरत से पूछा था कि वे तीन या चार मंत्रियों से परामर्श करते हैं कि नहीं। इस प्रकार राज्य की विशालता और कार्य-विभाग के अनुसार मंत्रियों की संख्या पर विचार होता था। धर्म का राजनीति में सम्माननीय स्थान होने के कारण अमात्यों में धर्माध्यक्ष के रूप में पुरोहित का भी बड़ा महत्त्व था। कई स्थितियों में तो वह राजा के समान महत्त्व रखता था।[1] अयोध्या में वशिष्ठ इसी पद पर थे। वशिष्ठ ही मंत्रणा के लिए कभी-कभी पूरी परिषद् को बुलाते थे। इस प्रकार पुरोहित का स्थान राजा के सभी मंत्रियों में उच्चतम था। इस स्थिति में कौटिल्य का यह मत ध्यातव्य है कि राजा अपने पुरोहित का उसी प्रकार अनुसरण करें जैसे शिष्य गुरु का, पुत्र पिता का और भृत्य स्वामी का अनुसरण करता है।[2]

राज्य का एक महत्त्वपूर्ण विभाग प्रतिरक्षा का था, जो सेनापति के अधिकार में रहता था। राम ने भी अयोध्या के सेनापति का समाचार भरत से पूछा था, जिसमें सेनापति के गुण बतलाये गये थे।[3] राक्षसराज रावण के सेनापति का नाम प्रहस्त था जो अपने स्वामी का सेनापति और युद्ध परिषद् का संचालक था। सम्पूर्ण लंका में प्रतिरक्षा की व्यवस्था करने के बाद उसने रावण को इसका समाचार दिया था। युद्ध के बीच में प्रहस्त ने मंत्रणा के समय रावण से जो कहा था वह पूर्णतः उद्धरणीय है --"हे राजन् हमलोगों ने कुशल मंत्रियों के साथ इस विषय पर पहले भी विचार किया। उन दिनों

१- डा० रामाश्रय शर्मा - सोशियो पॉलिटिकल स्टडी ऑफ वाल्मीकि रामायण, पृ०१२०।

२- कौटिल्य अर्थशास्त्र १/९ तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिवानुवर्तेत

३- रामायण २/१००/३० ।

एक दूसरे के मत की आलोचना करने से हमलोगों में विवाद भी खड़ा हो गया था। मेरा तो पहले से ही यह निश्चय रहा है कि सीता को लौटा देने से हमारा कल्याण होगा और न लौटाने पर युद्ध अवश्य होगा। यह बात हम आज देख रहे हैं। आपने दान, मान और सान्त्वनाओं के द्वारा मेरा बहुत सत्कार किया है इसलिए मैं आपका हित-साधन अवश्य करूँगा। मुझे जीवन स्त्री, पुत्र, धन आदि की रक्षा नहीं करनी है। आप देखिये कि युद्ध की ज्वाला में मैं अपने जीवन की आहुति दे देता हूँ।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि सेनापति युद्ध परिषद् में राजा की युद्ध नीति का विरोध कर सकते थे, किन्तु अन्ततः राजा की इच्छापूर्ति ही उसका अन्तिम लक्ष्य था। विशेषतः हठी राजाओं का सेनापति स्वतंत्र नहीं होता था।

राज्य के आर्थिक विषय का अधिकारी कोशाध्यक्ष कहलाता था। दशरथ के अमात्यों में यह पद अर्थसाधक नामक अमात्य को मिला था। राम ने भी सहस्त्र मूर्खों की अपेक्षा एक पण्डित को महत्त्वपूर्ण कहा था जो राज्य को आर्थिक कष्टों से निकाल कर उसका कल्याण करे। कोशाध्यक्ष का पद इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। वह ध्यान रखता था कि प्रजा को कष्ट न हो और उचित धन ही कोश में आये।[2] यह अर्थसचिव राजा को अर्थ-विषयक परामर्श भी देता था।

राजा का कर्त्तव्य धर्म की व्यवस्था करना भी होता था। इस विषय के महत्त्व-पूर्ण कार्य थे --धर्म का अतिक्रमण करनेवाले व्यक्तियों को उचित दण्ड देना, विभिन्न विवादों को सुलझाना इत्यादि। विवादों का विवेचन धर्मशास्त्रों में व्यवहार के अन्तर्गत हुआ है।

१- रामायण ६/५०/१२-६ ।

२- वही १/७/११ तथा १२ ।

एक दूसरे के मत की आलोचना करने से हमलोगों में विवाद भी खड़ा हो गया था। मेरा तो पहले से ही यह निश्चय रहा है कि सीता को लौटा देने से हमारा कल्याण होगा और न लौटाने पर युद्ध अवश्य होगा। यह बात हम आज देख रहे हैं। आपने दान, मान और सान्त्वनाओं के द्वारा मेरा बहुत सत्कार किया है इसलिए मैं आपका हित-साधन अवश्य करूँगा। मुझे जीवन स्त्री, पुत्र, धन आदि की रक्षा नहीं करनी है। आप देखिये कि युद्ध की ज्वाला में मैं अपने जीवन की आहुति दे देता हूँ।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि सेनापति युद्ध परिषद् में राजा की युद्ध नीति का विरोध कर सकते थे, किन्तु अन्ततः राजा की इच्छापूर्ति ही उसका अन्तिम लक्ष्य था। विशेषतः हठी राजाओं का सेनापति स्वतंत्र नहीं होता था।

राज्य के आर्थिक विषय का अधिकारी कोशाध्यक्ष कहलाता था। दशरथ के अमात्यों में यह पद अर्थसाधक नामक अमात्य को मिला था। राम ने भी सहस्त्र मूर्खों की अपेक्षा एक पण्डित को महत्त्वपूर्ण कहा था जो राज्य को आर्थिक कष्टों से निकाल कर उसका कल्याण करे। कोशाध्यक्ष का पद इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। वह ध्यान रखता था कि प्रजा को कष्ट न हो और उचित धन ही कोश में आये।[2] यह अर्थसचिव राजा को अर्थ-विषयक परामर्श भी देता था।

राजा का कर्त्तव्य धर्म की व्यवस्था करना भी होता था। इस विषय के महत्त्व-पूर्ण कार्य थे --धर्म का अतिक्रमण करनेवाले व्यक्तियों को उचित दण्ड देना, विभिन्न विवादों को सुलझाना इत्यादि। विवादों का विवेचन धर्मशास्त्रों में व्यवहार के अन्तर्गत हुआ है।

१- रामायण ६/५०/१३-६ ।

२- वही १/७/११ तथा १३ ।

इसमें अष्टादश-विवाद पदों का विवेचन किया गया है । विवादों को सुलझाने के लिए राजा सभा या न्यायालय में अध्यक्षता करता था । वह इस सम्बन्ध में अपने सचिवों की भी सहायता लेता था । दशरथ के अमात्यों में धर्मपाल का काम ऐसे ही विवादों को सुलझाने का था ।

चूँकि राजा नये कानून नहीं बना सकता था अपितु धर्मशास्त्रों और व्यवहारों के आधारों के आधार पर ही धर्म की व्याख्या करता था । इसलिए धर्म की व्याख्या में प्रायः विवाद या सन्देह का अवकाश रह जाता था । इसीलिए राज्य में ऐसे ब्राह्मणों की एक परिषद् होती थी जो धर्मशास्त्रों में उपस्थित ग्रन्थियों को सुलझा सके । यही परिषद् राजा को धर्म का स्वरूप बतलाने में समर्थ थी । इससे राजा किसी कार्य के धर्म या अधर्म होने का निर्णय किया करते थे । ऐसे सहायकों को रामायण में धर्मवाचक, धर्मपाठक या व्यवहारज्ञ कहते थे । व्यवहार के विषयों पर रामायण में कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती ।

विदेशों से सम्बन्ध

आधुनिक काल के समान प्राचीन भारत में भी विदेश सम्बन्ध का विषय बड़ा ही महत्वपूर्ण था । इसके विषय में परामर्श देने के लिए भी विशेष सचिव रहते थे । रामायण में सचिवों की सामान्य प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि अपने या शत्रु-पक्ष के राजाओं की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी । दूसरे राजा क्या करते हैं ? क्या कर चुके हैं ? और क्या करना चाहते हैं ? ये सभी बातें गुप्तचरों के द्वारा उन्हें ज्ञात रहती थी ।[1] ऐसे मंत्रियों के कारण राजा को भी स्वराष्ट्र और परराष्ट्र का वृत्तान्त

१- रामायण १/७/९ ।

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥

ज्ञात हो जाता था । संधि-विग्रह का उपयोग और उसके अवसर का सम्यक् ज्ञान होना विदेश विभाग के मंत्री की विशिष्टता थी ।[1] वह साम, दान, दण्ड और भेद के इन चार उपायों का सम्यक् उपयोग करने में कुशल होता था । गुप्तचरों के द्वारा राजा स्वराष्ट्र परराष्ट्र दोनों की सूचनाएँ अमात्य के माध्यम से ही प्राप्त करता था । रावण ने राम की सेना का विस्तार जानने के लिए शुक और सारण नामक मंत्रियों को ही गुप्तचर बनाकर भेजा था । सारण ने वानरों के पराक्रम का तथा शुक ने उनकी संख्या का पता लगाया था । उन लोगों की बातों से क्रुद्ध होकर रावण ने पुनः दूसरे गुप्तचरों को भेजा था ।

विदेशों से सम्बन्ध का साधन दूत होता था । शान्तिकाल और युद्धकाल दोनों स्थितियों में राजा दूत भेजा करते थे । सामान्यतः दूतों का वध नहीं होता था, विशेष स्थितियों में उनको सामान्य दण्ड दिया जाता था । रावण ने कुबेर के दूत का वध कर दिया था । यह उसका स्वेच्छाचार था ।[2]

रामायण -काल में अनेक राज्य थे । उनमें परस्पर शक्ति बढ़ाने के लिए प्रतिस्पर्धा होती थी । ऐसी स्थिति में प्रत्येक राज्य अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता था कि कहीं दूसरे राजा उसे हड़प न लें । इसीलिए राजाओं में राजनयिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए व्यग्रता रहती थी । राज्य के सात अंगों में मित्र को जो स्थान दिया गया है उसका यही तात्पर्य था कि राजा अच्छे मित्र बनाये जिससे राज्य की सत्ता स्थिर रहती थी । कुछ राजा अपने उत्साह में राज्य का विस्तार करते थे । और इस दिशा में अपने मित्रों से सहायता लेते थे । ऐसे राजा को विजिगीषु कहा गया

१- रामायण १/७/१८ सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञाः । २- रामायण ७/१३/४० ।

है । ऐसे राजा का एक मण्डल बनाते थे । रामायण में विजिगीषु राजाओं की चर्चा कई स्थलों पर हुई है । राजनीतिक मैत्री-भाव वैदेशिक सम्बन्ध के लिए बहुत आवश्यक था । मैत्री सम्बन्ध कई प्रकार से होते थे जैसे वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा, राजनीति सम्बन्ध के द्वारा अथवा सैन्य सम्बन्ध रखकर । दशरथ ने कई विवाह किये थे । उन राज्यों से उनका मैत्री सम्बन्ध था । विशेष अवसरों पर मित्र राजाओं को बुलाया जाता था । राम के राज्याभिषेक का निश्चय करने के समय अयोध्या में बहुत से मित्र राजा उपस्थित थे । उनमें प्राच्य उदीच्य, प्रतीच्य और दाक्षिणात्य राजाओं के अतिरिक्त म्लेच्छ, वनवासी और पर्वतीय राजा भी थे ।[1]

अरण्यकाण्ड में रावण को शूर्पणखा जिस तरह की बातें कहती हैं उससे प्रतीत होता है कि राजा के अधीन कुछ ऐसे राज्य रहते थे, जिन्हें आत्माधीन कहा जाता था ।[2] ऐसे आत्माधीन प्रान्तों की रक्षा का भार दूसरे राजा को मिलता था । दण्डकारण्य रावण के राज्य का ऐसा ही प्रदेश था, जहाँ राक्षस शासन करते थे । रावण ने वहाँ गुप्तचरों को नियुक्त नहीं किया । इसलिए उसके स्वजन मारे गये, ऐसा शूर्पणखा का आक्षेप था । इस प्रकार मित्र राजाओं और आत्माधीन राज्यों के साथ सहायता का आदान-प्रदान हुआ करता था ।

शत्रु-राजाओं से राजनीतिक सम्बन्ध एक महत्व का विषय था । विजिगीषु राजा के निर्देश के लिए जो राजनीति-सूत्र बने थे उन सबों के मूल में शत्रु राजाओं के साथ सम्बन्ध ही था । साम, दान, दण्ड और भेद ये चार नीतियाँ शत्रु राजाओं के सम्बन्ध में ही कही थी । यदि शत्रु राजा कुलीन और गुणवान् हो तो उसे साम नीति से ही वश में

१- रामायण २/३/२४-२५ ।

२- वही ३/३३/६ । ये न रक्षन्ति विषयमस्वाधीनं नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥

रखा जाता था । यदि वह लोभी हो तो दान का प्रयोग करना पड़ता था । यदि वह घातक या अहंकारी हो तो भेद-नीति का प्रयोग उचित था । इसके द्वारा उसके राज्य में गृह-कलह करा दिया जाता था या किसी अन्य राजा के साथ उसे युद्ध में डाल दिया जाता था । यदि शत्रु राजा दुष्ट या ढीठ हो तो दण्ड अर्थात् सीधे आक्रमण की नीति श्रेष्ठ होती थी ।[1] हनुमान ने इसीलिए कहा था कि राक्षसों के प्रति साम नीति का प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं । इनके पास धन बहुत है इसलिए दान देने का भी कोई उपयोग नहीं है । अपने बल के अहंकार में रहने वाले लोगों को भेद-नीति से वश में नहीं किया जा सकता । ऐसी दशा में मुझे पराक्रम दिखाना ही ठीक लगता है । इसी प्रकार नल ने भी कहा था कि अकृतज्ञ लोगों पर दण्डनीति का प्रयोग ही कार्य साधक होता है । ऐसे लोगों पर क्षमा, साम-नीति और दान नीति का प्रयोग व्यर्थ है ।[2]

शत्रु राजाओं के कार्य-कलापों से राजा लोग इतने सावधान रहते थे कि अपने राज्य में राजा के विरुद्ध बोलने पर या कार्य करते हुए देखकर उन्हें शत्रु-पक्ष का गुप्तचर मान लेते थे, भले ही वे व्यक्ति समुचित आलोचना के द्वारा अपने राजा का हित करना चाहते हों अर्थात् स्वपक्ष के हों, परपक्ष के नहीं । रावण को जब उसके वरिष्ठ मंत्री माल्यवान् ने राम के साथ संधि करने का परामर्श दिया,[3] तब रावण ने उसे परपक्ष

१- रामायण ५/४१/३ । न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।
न भेदसाध्या बल दर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते ॥

२- वही ६/२२/४८ । दण्ड एव वरो लोके पुरुषस्येति मे मतिः ।
धिक् क्षमामकृतज्ञेषु सान्त्वं दानमथापि वा ॥

३- वही ६/३५/१० । तन्मह्यं रोचते सन्धिः सहरामेण रावण ।

शोभा कुमारी

का समर्थक तथा गुप्तचर माना।[1] इसी प्रकार की शंका रावण को अपने सूत के प्रति भी हुई थी, जो भीषण संग्राम के समय रावण के रथ को युद्ध भूमि से भगाकर ले गया था। उसे अनुमान था कि शत्रु ने मेरे सारथि को घूस देकर फोड़ लिया है।[2] ये प्रसंग सिद्ध करते हैं कि शत्रु-पक्ष के लोगों में गुप्तचर व्यापक रूप से रहते थे और कभी-कभी कोई राजा शत्रु-पक्ष के महत्वपूर्ण अधिकारी को भी दान द्वारा मिला लेते थे। इस प्रकार दान-नीति का प्रयोग होता था।

रामायण में एक प्रसंग राज्य-विद्रोह का भी मिलता है। सीतान्वेषण करते हुए वानर जब ऋक्षबिल नामक गुफा में प्रविष्ट हो गये थे तब सुग्रीव के भय से वे पुनः किष्किन्धा लौटना नहीं चाहते थे। उस समय कुछ वानरों में यह सम्मति हुई कि वहीं गुफा में एक स्वाधीन राज्य बनाकर निवास किया जाए। यह स्पष्टतः राज्य-विद्रोह था, किन्तु हनुमान ने इस स्थिति को सम्भाल लिया। अतः राज्य-विद्रोह अज्ञात नहीं था।

राजनीति में साम, दान और भेद ये तीन ही उपाय मांगलिक माने गये थे। दण्ड अर्थात् युद्ध का प्रयोग तो सदा ऐसी स्थिति में होना चाहिए। जब कोई विकल्प न रह जाए। इस प्रकार रामायण के राजनीति-दर्शन में साम आदि उपायों का यथोचित स्थान निर्दिष्ट किया गया था।

पर राज्यों के सम्बन्ध में छः गुणों का निर्देश राज्यशास्त्रियों ने किया है। राम को भी वाल्मीकि ने षाड्गुण्य के स्थानों का जानकार (षाड्गुण्यस्य पदवेत्ता) कहा है। ये छः गुण इस प्रकार हैं --संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव।

१- रामायण ६/३६/२ तथा ७।

२- वही ६/१०४/७ सखोऽयं प्रतितर्को मे परेण हि उपकृतः।

संधि और विग्रह के सम्बन्ध में माल्यवान रावण को बहुत विस्तार से समझाता है । उसके अनुसार आवश्यक होने पर शत्रुओं के साथ संधि और विग्रह करना चाहिए । संधि के सम्बन्ध में उसका मत है कि जिस राजा की शक्ति क्षीण हो रही है अथवा जो शत्रु के समान ही (उससे अधिक नहीं) शक्ति रखता हो उसे संधि कर लेनी चाहिए ।[1] इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि संधि का उपक्रम उसकी ओर से होना चाहिए, जो शक्ति में कम हो या समान हो । दूसरी ओर विग्रह वही कर सकता है, जिसके पास शक्ति अधिक हो । शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली न होने पर युद्ध के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए ।

संधि की स्थिति में शत्रु को उसका अभीष्ट पदार्थ देना पड़ता है, जिससे शान्ति हो सके । रामायण में शान्ति का प्रयास बहुत अधिक दिखायी पड़ता है । राम-रावण युद्ध टलने के लिए राम के पक्ष से और रावण के परिवार के पक्ष से बहुत प्रयास हुए थे। रावण के पुत्र, भाई, मंत्री आदि सभी संधि के पक्षधर हैं । केवल रावण के हठ के कारण युद्ध ठन जाता है । दोनों पक्ष समान स्तर पर संधि करना चाहते हैं । सीता को लौटाना ही संधि-प्रस्ताव का मुख्य बिन्दु है । इसी प्रकार तारा भी बाली को उपदेश देती है कि सुग्रीव को युवराज बनाकर शान्ति का प्रयास करें । राम लक्ष्मण से युद्ध करने में कुशल नहीं है ।[2] तारा का यह विचार है कि सुग्रीव भले ही दुर्बल हो, किन्तु राम के मिल जाने से वह बाली की अपेक्षा प्रबल स्थिति में हैं ।

१- रामायण ६/३५/८ । हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च ।
न शत्रुमवमन्येत ज्यायान् कुर्वीत विग्रहम् ॥

२- वही ४/१५/२२ ।

रामायण के उत्तरकाण्ड में रावण और बाली के बीच एक विचित्र संधि का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार रावण प्रस्ताव रखता है कि स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग, वस्त्र और भोजन इन सभी वस्तुओं पर हम दोनों का साझे का अधिकार होगा।[1] यह संधि-प्रस्ताव अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण है, किन्तु इसमें राजनीतिक संधि की पराकाष्ठा है।

विग्रह और यान इन दो गुणों का सम्बन्ध शत्रु पर आक्रमण करने से था। दिग्विजय यात्रा करनेवाले अपनी पूरी जाँच परख करने के बाद ही किसी पर आक्रमण करते थे। अपनी दुर्बल स्थिति होने पर विजिगीषु राजा अपने मित्रों की सहायता लेते थे। राम ने रावण पर आक्रमण करने से पूर्व वानरों की सेना को अपनी ओर मिलाने के लिए कूटनीति अपनायी थी। बाली को मारकर सुग्रीव को अपने पक्ष में मिला लिया था जिससे सुग्रीव उपकृत रहे और उसकी पूरी सेना राम की ओर से युद्ध के लिए प्रस्तुत हो।

आसन उस गुण को कहते हैं जिसमें किसी से युद्ध करके कोई राजा अपने देश में चुपचाप बैठ जाए। इस नीति के विषय में भी रामायण में कहा गया है कि किसी दुर्बल के साथ विरोध करके बलवान पुरुष चुपचाप बैठ सकता है अर्थात् आसन नीति का आश्रय ले सकता है लेकिन किसी बलवान के साथ वैर करके कोई दुर्बल पुरुष कहीं भी सुख से नहीं रह सकता।[2] कौटिल्य ने यद्यपि उपेक्षा या तटस्थता के अर्थ में आसन ग्रहण किया है, किन्तु रामायण में इसका यह अर्थ है कि किसी से जान-बूझकर वैर

१- रामायण ७/३४/४१। दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्।
सर्वमेवाविभक्तं नो भविष्यति हरीश्वर॥

२- वही ४/५४/१२। विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसा
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः॥

शोभा कुमारी

करके उसकी उपेक्षा करना ही "आसन" है । आधुनिक राजनीति दर्शन में इसे पृथक्-बन्दी कह सकते हैं ।

संश्रय-नीति का अर्थ है कि किसी शक्तिशाली राजा के यहाँ आश्रय लेना । सुग्रीव राम से बाली को मारने में सहायता माँगता है । यह संश्रय का उदाहरण है ।

द्वैधी भाव का अर्थ है एक राजा से संधि करना और दूसरे से शत्रुता रखना ।[1] रामायण में इस नीति के प्रयोग की सूचना नहीं मिलती ।

इन सभी नीतियों का सही-सही उपयोग करना ही वास्तविक राजनीति थी । स्वपक्ष और परपक्ष की शक्ति का मूल्यांकन करने के बाद ही उपर्युक्त गुणों का प्रयोग किया जा सकता था ।

राजा-प्रजा का सम्बन्ध

राजा-प्रजा का सम्बन्ध राजनीति-दर्शन का आधार है । वाल्मीकि ने यह स्वीकार किया है कि राज्य की स्थिति जनता के कल्याण के लिए होती है । इसलिए राज्य के प्रधान के रूप में राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह राज्य की रक्षा करें । इस सन्दर्भ में राजा को प्रजा की रक्षा चोरों, डकुओं आदि के भीतरी आक्रमण से तथा बाहरी शत्रुओं से भी करनी पड़ती है । राजा प्रजा की रक्षा के लिए ही कर संग्रह करता है । रामायण के अनेक सन्दर्भ इस बात का उद्घोष करते हैं कि राजा प्रजा का पिता है । राम अपनी प्रजा के साथ इस प्रकार व्यवहार रखते थे कि उनके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते थे ।[2] राजा प्रजाओं के आचरण और धर्म का भी रक्षक होता है । इसलिए शास्त्रीय मर्यादाओं

१- कौटिल्य अर्थशास्त्र ७/१ संधिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः ।

२- रामायण २/२/४२ ।

का उसे संचालक भी कहा गया है । रामायण-काल की प्रजा में यह भावना फैली हुई थी कि राजा के दोष से ही प्रजा पर विपत्ति आती है और किसी की अकाल मृत्यु भी होती है।[1] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि राजा प्रजा से षष्ठ भाग कर के रूप में स्वीकार करके भी उसका पालन पुत्रवत् नहीं करता तो उसे महान् अधर्म होता है ।

वाल्मीकि सिद्धान्ततः यह मानते हैं कि प्रभुशक्ति मूलतः प्रजा में ही निहित है। दशरथ राम को युवराज का पद देने के पूर्व प्रजा की सम्मति लेते हैं । इसी प्रकार प्रजा कभी-कभी राजा को गलत काम करने से रोकती भी थी ।

स्वेच्छाचारी राजा होने की स्थिति में प्रजा राज्य का परित्याग कर देती थी ।[2] किन्तु कभी-कभी प्रजा निरंकुश राजाओं की स्वेच्छापूर्ति में साधन बनी रहती थी । रावण की प्रजा उसके न्याय-अन्याय का विवेक किये बिना उसकी इच्छा पर नाचती थी किन्तु इस स्थिति को राक्षस जाति में दिखाकर वाल्मीकि यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऐसा आचरण भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में न होकर विपरीत धारा के रूप में था । इसकी निन्दा भारतीय संस्कृति में की गयी है ।

राम-राज्य का संक्षिप्त वर्णन युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग में मिलता है । जिसके अनुसार उस राज्य में न विधवाओं का विलाप होता था और न वृद्धों को अपनी सन्तान का श्राद्ध कर्म करना पड़ता था । ये दोनों लक्षण राम-राज्य की धार्मिक उपलब्धि के रूप में थे । इनके अतिरिक्त सर्प और व्याधि का भय भी राम-राज्य में नहीं था ।[3] इससे राज्य की

१- रामायण ७/७३/१६ । तुलनीय आर्यशूर -जातकमाला, विश्वन्तर जातक, श्लोक सं० १९ -
फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीति दोषास्तदुपाश्रितेषु ।

२- रामायण २/३६/२० ।

३-वही ६/१२८/९८ । न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥

रक्षा-विधि तथा स्वास्थ्य-चिन्तन पर प्रकाश पड़ता है । नागरिकों की रक्षा तथा उनके स्वास्थ्य पर ध्यान रखना राजा का सर्वोपरि कर्त्तव्य है । अच्छे राजा के मिल जाने से प्रजा की प्रसन्नता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । ऐसी स्थिति में सभी लोग सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं । प्रजा के धर्माचरण में राजा या किसी व्यक्ति की ओर से विघ्न नहीं हो तब तो यह अत्यधिक उत्कर्ष का विषय होता था । राजा के अभाव में प्रजा की विपत्ति का विस्तृत विवरण देते हुए वाल्मीकि ने राजा के महत्त्व का प्रतिपादन किया था ।

अराजक राज्य का सैद्धान्तिक वर्णन ही रामायण में नहीं हुआ है, अपितु उसके व्यावहारिक पक्ष का भी निरूपण किया गया है । भरत ने ननिहाल से लौटकर अयोध्या की दशा देखी थी कि गृहस्थों के घरों में संमार्जन नहीं हुआ है । वे रूखे और श्रीहीन दिखाई दे रहे हैं । उनके द्वार खुले हुए हैं । घरों में न तो बलिकर्म हो रहे हैं और न धूप की सुगन्ध ही आ रही है । पूरा कुटुम्ब भूखा और उदास दिखायी पड़ रहा है । देव-मन्दिरों के आँगन भी झाड़े-बुहारे नहीं गये हैं । वे सुनसान लग रहे हैं । देव-प्रतिमाओं की पूजा बन्द हो गयी है । सभी बाजार भी बन्द हैं ।[1]

इससे स्पष्ट है कि राजा और प्रजा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि राजा के अभाव में प्रजा के समस्त क्रिया-कलाप बन्द हो जाते थे । अच्छे राजा को प्रजा प्राणों से बढ़कर मानती थी । उधर राजा भी प्रजा के सभी संकटों का उत्तरदायित्व अपने सिर पर ही धारण करता था । यह राजनीतिक चिन्तन अपने पूर्ण व्यवहार में रामायण में परिलक्षित होता है ।

1- रामायण 2/71/30-42 ।

उपसंहार
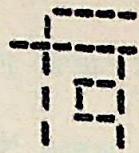
इन गत पृष्ठों में वाल्मीकीय रामायण पर आश्रित दार्शनिक विषयों का वर्गीकृत अनुशीलन किया गया है। वाल्मीकीय रामायण के दार्शनिक अनुशीलन से सर्वप्रमुख तथ्य यह प्राप्त होता है कि आदि कवि व्यावहारिक दर्शन की ओर अधिक अभिमुख थे, सैद्धान्तिक तत्त्व-विवेचन में उनकी आस्था उतनी अधिक नहीं थी। केवल उन्हीं सिद्धान्तों को उन्होंने रामायण के पात्रों द्वारा अभिव्यक्ति दी है, जिनका व्यावहारिक उपयोग जन-जीवन में सम्भव था। यद्यपि रामायण में एक-एक विषय का कथा विवरण दिया गया है, किन्तु शुष्क दार्शनिक विवेचनों को वाल्मीकि अत्यन्त संकेत रूप में रखते हैं जिससे काव्य की अबाध धारा में अवरोध न हो।

वाल्मीकि ने अपने दार्शनिक विचारों को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से स्थिर करने में सहायता अवश्य ली है, किन्तु उनमें मौलिकता भी कम नहीं है। उपनिषदों के शुष्क सिद्धान्तों की ओर अधिक न जाकर वे वैदिक-संहिताओं के कर्मकाण्ड में विश्वास रखते हैं। देवी-देवताओं की पूजा तथा अन्य धर्मानुष्ठान का वर्णन वे मुक्त भाव से करते हैं। सृष्टि के विषय में वे पंच महाभूत, त्रिगुणवाद आदि का संकेत भले ही देते हैं, किन्तु उनका विवेचन नहीं करते। इसी प्रकार भूतात्मा और आत्मा(परमात्मा) का निर्देश वे अपने काव्य में अवश्य करते हैं, किन्तु उन पर कोई दार्शनिक समीक्षा प्रस्तुत नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह मानकर चलते हैं कि उपनिषदों के तत्तद्विषयक सिद्धान्तों से उनका पाठक परिचित है।

रामायण में हमें ऐसे समाज का चित्र मिलता है जिसमें वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था बनी हुई थी। विभिन्न शिल्पियों और कलाकारों का महत्त्व था। समाज में सर्वत्र वेदों तथा ऋषियों की वाणी में अव्याहत श्रद्धा वर्त्तमान थी। गो-ब्राह्मण की पवित्रता में समाज की दृढ़ आस्था थी। धार्मिक और नैतिक कर्त्तव्यों का तो इतना महत्त्व था कि लोगों के हृदय और मस्तिष्क पर धर्म छाया हुआ-सा लगता है। धर्माचरण केवल आर्य जाति में ही नहीं अपितु वानरों और राक्षसों के बीच भी प्रतिष्ठित था। ग्रामों और नगरों में पूजा-स्थल बने हुए थे। कहीं मूर्त्तियाँ थीं तो कहीं मूर्त्ति के बिना ही स्थानों की उपासना होती थी। संन्यासियों और तपस्वियों का समाज में बहुत सम्मान था।

इस धर्माचरण में कहीं-कहीं नास्तिकों का भी अस्तित्व मिलता है जो धर्मात्मा पुरुषों के लिए बहुत संकट उपस्थित करते थे। राजा वर्ण और आश्रम की रक्षा करते हुए धर्म का प्रतिष्ठापक माना जाता था। उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में आदर्श उदाहरण उपस्थित करना पड़ता था, अन्यथा जनता में उसके दुराचरण का प्रभाव पड़ने की आशंका थी। राजा का कर्त्तव्य भी नास्तिकों से जनता की रक्षा करना था।

तात्कालिक बौद्धिक जीवन विभिन्न विषयों के अध्ययन से अनुप्राणित होता था। ज्ञान पाकर लोग विनीत होते थे। विद्या का सबसे बड़ा परिणाम रामायण में भी विनय को माना गया है। उन दिनों वेद, उपनिषद्, वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, राजशास्त्र, धनुर्वेद, न्यायशास्त्र, ललितकला, आयुर्वेद, कृषि, पशुपालन आदि विभिन्न शास्त्रों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण का वातावरण था। बुद्धिजीवी लोग भी तर्कवाद के चक्कर में न पड़कर परम्परागत विश्वासों से अभिभूत थे।

शोभा कुमारी

रामायण में अभिव्यक्त दर्शन का मुख्य रूप आशावाद का है । जीवन में संकट आते ही रहते हैं । इन संकटों को देखकर उपनिषदों के ऋषियों ने तथा परवर्ती निवृत्ति-मार्गी आचार्यों ने जीवन को एक बन्धन के रूप में बतलाया था । संसार में बार-बार आना-जाना आत्मा के लिए बन्धन रूप माना गया था जिसकी स्थायी निवृत्ति उन आचार्यों ने मोक्ष में ही देखी थी । वाल्मीकीय रामायण में बन्धन मोक्ष का यह प्रश्न उठाया ही नहीं गया है । उसमें यही कहा गया है कि सभी प्राणियों पर संकट आते हैं-- यह प्रकृति का एक अनिवार्य नियम है । अव्याहत रूप से किसी को आनन्द नहीं मिल सकता । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन से निराश हो जाए । एक स्थान पर रामायण में कहा गया है कि यदि जीवन की रक्षा करें तो सौ वर्षों में कभी-न-कभी सुख मिलेगा ही। इस प्रकार आशावाद अपने सम्पूर्ण रूप में रामायण में उपस्थित है ।

इसी प्रकार रामायण में कर्मवाद का भी निरूपण मिलता है । पाप कर्म करने-वाले व्यक्ति को अवश्य फल मिलता है, चाहे वह तीनों लोकों का स्वामी ही क्यों नहीं हो ? सभी वस्तुओं का नाश होता है, संयोग की परिणति वियोग में होती है और जीवन का अन्त मृत्यु है । कोई भी व्यक्ति प्रकृति के नियम का अतिक्रमण नहीं कर सकता । इसलिए वह शक्तिहीन है । जीवन नदी के प्रवाह के समान चलता जाता है । प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपनी आत्मा को सुख की दिशा में मोड़े । सभी को सुख भोगने का अधिकार है । पाँच ऋणों में एक ऋण आत्मा के प्रति है जिसका शोधन सुखानुभूति से ही हो सकता है । इस प्रकार रामायण का जीवन दर्शन कर्मवाद और आशावाद से परिपूर्ण है ।

सुख की अनुभूति नास्तिकों के विचार से अर्थ के द्वारा होती है, किन्तु वाल्मीकीय रामायण में इसका स्रोत धर्म को माना गया है । धर्म के अनुकूल अर्थ का उपार्जन

करके ही अपनी कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है । धर्म के अभाव में अर्थ और काम हानिकारक है । इसलिए जीवन का लक्ष्य यदि कोई हो सकता है तो वह धर्मविरब ही है । धर्म के पालन से ही संसार के सारे पदार्थ सुलभ हो जाते हैं । यह धर्म ही परम तत्त्व है ।

वैसे पुरुषार्थों में धर्म के साथ-साथ अर्थ और काम की भी गणना की गयी है, किन्तु ये तीनों पुरुषार्थ अपने आप में पूर्ण नहीं है, क्योंकि केवल अर्थ का सेवन करने वाला घृणा का पात्र बनता है और काम में अत्यधिक आसक्ति दुःख में परिणत होती है । इसलिए समन्वित रूप से विवेकपूर्वक इन तीनों का उचित काल में ही सेवन किया जाना चाहिए ।

ऐसी स्थिति में धर्म ही वह तत्त्व है जिसे जीवन का लक्ष्य भी कह सकते हैं और उसका साधन भी । चाहे शास्त्रों के द्वारा विहित कर्मों का अनुष्ठान हो या महापुरुषों के द्वारा आचरित पद्धति हो या अपनी अन्तःप्रेरणा से उद्भूत आचरण ही इन सबों में धर्म की सत्ता मानी गयी है । रामायण में धर्म को संसार और समाज का धारक कहा गया है । इसलिए इसे परम तत्त्व तथा सभी प्राणी को शरण देनेवाला भी बतलाया गया है । धर्म से सुखों की उत्पत्ति होती है । यह धर्म संसार का पालक भी है। जो इसकी रक्षा करते हैं उनकी रक्षा यह भी करता है ।

रामायण में धर्म और सत्य को प्रायः पर्याय के रूप में लिया गया है । इस पथ पर चलकर संसार के बड़े-से-बड़े संकटों को लोग पार कर जाते हैं । किन्तु इस अत्यन्त लोकप्रिय धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है तथा पण्डितों के द्वारा भी दुर्गम है । बहुत

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

वे लोग धर्म का आवरण तो धारण करते हैं, किन्तु भीतर से किसी अन्य मार्ग का ही अनुसरण
करते हैं । ऐसे अधर्मियों का भौतिक अभ्युदय देखकर कभी-कभी किसी चञ्चल मनवाले
व्यक्ति में धर्म के क्लेशावह मार्ग के प्रति घोर अनास्था हो जाती है । ऐसे व्यक्ति भौतिक
शक्ति या अर्थ के पक्ष में बोलने लगते हैं और धर्म के लिए कठोर तपस्या करनेवालों
और राज्य-सुख छोड़ देनेवालों की निन्दा करने लगते हैं । इसलिए वाल्मीकि की इस
मान्यता पर ध्यान देना आवश्यक है कि धर्म की अद्भुत शक्ति में कभी-कभी पण्डितों को
भी अविश्वास होने लगता है । संसार की गतिविधि ऐसी ही है । वे लोग धर्म के स्थान
पर अधर्म का ही समर्थन करने लगते हैं । किन्तु यह अविवेक का मार्ग है । इसमें भ्रान्तियाँ
और स्खलन पग-पग पर हैं । अधर्म का फल अवश्य ही कष्टप्रद होता है और धर्म अन्ततः
सुखद होता है । इन कथनाओं में वाल्मीकि ने कठोपनिषद् के श्रेय और प्रेय की
व्याख्या की है ।

वाल्मीकीय रामायण में प्राप्त देवतावाद और धार्मिक विश्वास का अनुशीलन
करने से यह पता लगता है कि वाल्मीकि देवताओं की अमरता को पूर्ण नहीं मानते । वे
भी मानवों के समान सुख-दुःख की भावना से अभिभूत होते हैं । कोई भी मनुष्य सत्
कर्मों के द्वारा देवता के पद को प्राप्त कर सकता है । किन्तु तीन देवता सर्वोच्च हैं
जिन्हें संसार के तीन प्रमुख कार्यों में निरत माना गया है । ये हैं --सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा,
पालनकर्त्ता विष्णु और संहारकर्त्ता शिव । ये तीनों देवता ब्रह्म के ही कार्य रूप हैं ।
इन त्रिदेवों को ब्रह्म के समान ही अजन्मा, नित्य, शाश्वत आदि विशेषणों से विभूषित
किया गया है । ब्रह्म को रामायण में अव्यक्त या अव्यय कहा गया है । कहीं-कहीं इसे आत्मा

शोभा कुमारी

या परमात्मा भी बतलाया गया है । दूसरी ओर, जीवात्माओं को भूतात्मा या लिंगी कहा गया है । ब्रह्म में एक अवर्णनीय शक्ति माया भी मानी गयी है जो सृष्टि, पालन और संहार के कार्यों में सहायक है ।

रामायण में वैदिक धर्मानुष्ठान के साथ-साथ देव-पूजा या मूर्ति-पूजा का भी वर्णन मिलता है । एक ओर वैदिक यज्ञों में अग्नि के माध्यम से स्वाहाकार का दृश्य तपोवनों और बड़े-बड़े नगरों में दिखायी पड़ता था तो दूसरी ओर, आयतनों और चैत्यों की पूजा भी होती थी । आसन, प्राणायाम, ध्यान, समाधि इत्यादि उस तात्कालिक तपस्या के अनुष्ठान से सम्बन्ध रखते हैं । वेदों का स्वाध्याय, दान, आतिथ्य-सत्कार इत्यादि शास्त्रानुकूल धार्मिक आचरणों की चर्चा अनेक बार हुई है । उपासना और धर्मानुष्ठान के क्षेत्र में रामायण में अत्यन्त उदारता दिखायी पड़ती है । सम्प्रदायवाद का उद्भव यहाँ नहीं मिलता ।

वैराग्य का वातावरण रामायण में प्रायः सभी धार्मिक व्यक्तियों की बातों से प्रकट होता है । नगर के जनस्थानों से दूर रहकर बहुत से ऋषियों ने तपोवनों में तपस्या की । यद्यपि मोक्ष की प्रत्यक्ष चर्चा रामायण में नहीं मिलती, किन्तु जहाँ-तहाँ बिखरे हुए वाक्यों से यही लगता है कि आश्रमों के तपस्वी मोक्ष के लिए ही कठोर साधना करते थे । वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति करना चाहते थे । वैराग्य का अन्तिम चरण समस्त भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर निरन्तर समाधि प्राप्त करने में ही था ।

वाल्मीकीय रामायण बौद्ध-दर्शन के समान नैतिक गुणों के उत्कर्ष पर बल देता है । सभी प्राणियों के प्रति दया की भावना, सत्यवादिता, आत्मसंयम, क्षमा, आतिथ्य, दान, पवित्रता आदि गुणों को रामायण में उत्तम धर्माचरण कहा गया है । इसी प्रकार

बड़े, गुरुओं की सेवा, उनके आदेश का पालन, पातिव्रत आदि को उत्तम धर्म कहा गया है । किसी भी व्यक्ति का चरित्र ही उसका सबसे बड़ा रक्षक है । स्त्री का पातिव्रत्य धर्म किसी भी संन्यासी की तपस्या से कम नहीं है । अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म का अनुष्ठान भी नैतिक गुणों में गिना जाता है । उदाहरणार्थ राजा यदि अपने धर्म का पालन करता है तो वह उसकी तपस्या है, धर्मानुष्ठान है ।

रामायण में नैतिक मानदण्ड का निर्धारण चार प्रकार से बतलाया गया है --

१- परलोक का भय,

२- बड़ों का सम्मान,

३- अन्य व्यक्ति के नैतिक गुणों पर प्रभाव तथा

४- अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि ।

इन पर विचार करके ही किसी काम को नैतिक या अनैतिक समझा जाता था ।

रामायण में भाग्यवाद में भी विश्वास प्रकट किया गया है । जिन परिस्थितियों को अनिवार्य बतलाया गया है, वहाँ लोग भाग्य की शरण में हो गये हैं। जो घटना तर्क या कार्य-कारण-नियम का अतिक्रमण करे उसे दैव या भाग्य कहा गया है । सभी पदार्थों पर उसका प्रभाव पड़ता है । दैव समुचित काल में परिपाक होता है और इसीलिए दैव और काल को कभी-कभी पर्यायवाचक माना गया है । इसलिए वाल्मीकि कहते हैं कि जो कुछ भी घटना घटती है उसका कारण काल है । कभी-कभी दैव को नियति के रूप में देखा गया है । यह नियति सबों पर शासन करती है । नियति के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता । काल इस नियति को भी प्रकाशित करता है । काल के समान न कोई बन्धु है, न कोई तर्क है, न कोई शक्ति है और न कोई विचार ही है । काल सबों के नियंत्रण

से परे है । किन्तु वाल्मीकि इसे पूर्व जन्म के कर्मों का समूह कहते हैं,जो हमें काल या भाग्य के रूप में मिलता है । इस प्रकार पुनर्जन्म सिद्धान्त में भी वाल्मीकि का विश्वास है ।

दैव के प्रति गहन आस्था होने पर भी वाल्मीकि पुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं करते । वस्तुतः सफलता दैव और पौरुष दोनों पर आश्रित होती है । दैव किसी पूर्व पौरुष का ही परिणाम है । कुछ लोग तो दैव को पौरुष के सामने सर्वथा शक्तिहीन मानते हैं ।

रामायण में राजनीति-दर्शन का भी निरूपण हुआ है । राजा के महत्त्व को राष्ट्र के सारे क्रिया-कलापों की दृष्टि से बतलाया गया है । अराजकता की स्थिति का विस्तृत वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने राजा के आदर्श की भी कल्पना की है । आदर्श राजा सभी गुणों से परिपूर्ण होता है । एक-एक व्यक्ति की बात का उसके लिए महत्त्व है । राज्य के जो अंग अर्थशास्त्रियों ने बतलाये हैं वे रामायण में भी मिलते हैं । इस क्रम में मंत्रि-परिषद् का राजा के लिए यथेष्ट महत्त्व वाल्मीकि ने दिखाया है । इसी प्रकार यान,आसन आदि राजनीति के षाड्गुण्य का प्रतिपादन करते हुए आदिकवि ने साम आदि उपायों को सही समय पर प्रयोग किये जाने का सिद्धान्त भी दिया है ।

यदि रामायण के दर्शन को संक्षेप में उपस्थित करें तो यही कहेंगे कि शिक्षा, राजनीति, आचारशास्त्र , धर्म और समाज के क्षेत्रों में यहाँ व्यावहारिक दर्शन दिया गया है । इस दर्शन को एक रोचक काव्य के रूप में उपस्थित किया गया है । ऊँचे दार्शनिक विचारों को तथा तत्त्वशास्त्रियों के सिद्धान्तों को कहीं-कहीं ही प्रदर्शित किया गया

है । किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख इसमें नहीं मिलता, केवल लोकायतिक (चार्वाक) के द्वारा समर्थित आन्वीक्षिकी या हेतुविद्या का ही इसमें ईषत् संकेत मिलता है । भक्ति की चर्चा होने पर भी उससे सम्बद्ध सम्प्रदायों के होने का इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । इस प्रकार रामायण का दर्शन कट्टर रूढ़िवाद तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से अस्पृष्ट है तथा उदार, सर्वसाधारण दर्शन का प्रकाशक है ।

=

प्रमाण ग्रन्थावली

संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी

:०:

संस्कृत

१- अथर्ववेद, सातवलेकर संस्करण, पारडी, १९५७ ।

२- अग्निपुराण, सम्पादक -जीवानन्द भट्टाचार्य, कलकत्ता।

३- अमरकोष, भानुजी दीक्षित रचित रामाश्रमी टीकासहित, निर्णयसागर प्रेस, १९३० ।

४- अत्रि — अत्रिस्मृति, स्मृतिसन्दर्भः में प्रकाशित मनसुखराय मोड़, कलकत्ता ।

५- आनन्दवर्धन — ध्वन्यालोक (लोचन टीकासहित) हिन्दी व्याख्या - डा० रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३ ।

६- आर्यशूर — जातकमाला, हिन्दी अनुवाद - सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, १९७० ।

७- ईश्वरकृष्ण — सांख्यकारिका, तत्त्वकौमुदीसहित, हिन्दी व्याख्याकार- डा० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्र०सं० २०२८ ।

८- ईशावास्योपनिषद् (शांकरभाष्यसहित) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

९- ऋग्वेद-संहिता, सातवलेकर संस्करण, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, १९५७ ।

१०- ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना ।

११- कठोपनिषद् (शांकरभाष्यसहित) गीता प्रेस, गोरखपुर।

१२- कणाद वैशेषिक सूत्र, ढुण्ढिराजशास्त्रीकृत टीकासहित तथा उपस्कार भाष्यसहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

१३- कपिल सांख्यसूत्र (विज्ञानभिक्षुकृत प्रवचनभाष्य सहित) सम्पादक- रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी ।

१४- काशिका, पाणिनीयसूत्र सहित - सम्पादक - शोभित मिश्र, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, १९५२।

१५- गौतम न्याय-सूत्र (वात्स्यायन भाष्य सहित) हिन्दी व्याख्याकार - आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, द्वि० संस्करण, सम्वत् २०२६ ।

१६- छान्दोग्योपनिषद् (शांकरभाष्य सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर ।

१७- तैत्तिरीय संहिता, सातवलेकर संस्करण, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५० ।

१८- तैत्तिरीय ब्राह्मण, सम्पादक -सामशास्त्री, मैसूर, १९२१ ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

१९- तैत्तिरीयोपनिषद् (शांकरभाष्यसहित) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

२०- न्यायकोश, सम्पादक-भीमाचार्य झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२८, तृतीय संस्करण ।

२१- पतंजलि — व्याकरण महाभाष्य (नवाह्निक) पं० चारुदेव शास्त्रीकृत हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

२२- पतंजलि — योगसूत्र (भोजवृत्ति सहित) सम्पादक-डा० रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।

२३- पाणिनि — अष्टाध्यायी (देखिये काशिका) ।

२४- बादरायण — ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, द्वि० संस्करण, सम्वत २०२८ ।

२५- भवभूति — उत्तररामचरितम् सम्पादक - श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७४ ।

२६- मनु — मनुस्मृति, मणिप्रभा व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९०० ।

२७- माधवाचार्य — सर्वदर्शनसंग्रह, व्याख्याकार - प्रो० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ।

२८- यास्क — निरुक्त (प्रथम भाग), सम्पादक -प्रो० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६१ ।

२९- याज्ञवल्क्य — याज्ञवल्क्य स्मृति, विज्ञानेश्वररचित मिताक्षरा टीका सहित - हिन्दीव्याख्याकार -डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६० ।

३०- वाल्मीकि — (क) वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, २०२४ (रामायण के श्लोकों के निर्देश इसी संस्करण से लिये गये हैं)।

(ख) श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण, सम्पादक - पं० शिवरामशर्मा वाशिष्ठ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७ ।

(ग) वाल्मीकीय रामायण (तिलक, टीकासहितम्), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३० (चतुर्थ संस्करण)।

(घ) वाल्मीकीय रामायण, तिलकशिरोमणि -भूषण टीकात्रयसहितम्, सम्पादक -एस० के० मुधोलकर, ० लाड, बम्बई, १९१३-२०।

३१- — वाजसनेयि संहिता, उवटमहीधर भाष्यसहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ।

३२- व्यास — श्रीमद् भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

शोध प्रबन्ध—पटना विश्वविद्यालय

शोभा कुमारी

३३- वाचस्पति मिश्र — सांख्य तत्त्वकौमुदी (देखिये ईश्वरकृष्ण)।

३४- विश्वनाथ — न्याय पंचानन, भाषापरिच्छेद, न्याय सिद्धान्त मुक्तावली सहित, हिन्दी व्याख्याकार -गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८ ।

३५- विष्णुपुराण, हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

३६- बृहदारण्यकोपनिषद् (शंकरभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर ।

३७- श्वेताश्वतरोपनिषद्, शंकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

३८- शतपथब्राह्मण, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, १९०२ ।

३९- शतपथ ब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, २ भाग, संवत् १९९४ तथा १९९७ ।

४०- सदानन्द — वेदान्तसार, व्याख्याकार - डा० रमाशंकर त्रिपाठी, वाराणसी, १९७५ ।

४१- सायण — तैत्तिरीय संहिता - भाष्य आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, तीन खण्ड ।

४२- हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् सम्पादक - प्रो० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७२ ।

हिन्दी

१- अनन्त सदाशिव अलतेकर — प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, प्रयाग, १९४८ ।

२- ए०बी० कीथ — संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनुवादक - डा० मंगल देव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, पटना १९६०।

३- एम० विन्टरनित्ज — प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम भाग), द्वितीय खण्ड , हिन्दी अनुवाद - डा० रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६ ।

४- — कौटिल्य का अर्थशास्त्र, हिन्दी व्याख्या - रामतेज शास्त्रीकृत, पण्डित पुस्तकालय, काशी १९६४ ।

५- गोपालकृष्ण अग्रवाल — समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा ।

६- (डा०) जयशंकर मिश्र — प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना । १९७४ ।

७- पी०वी०काणे — धर्मशास्त्र का इतिहास(प्रथम भाग), अनुवादक - प्राध्यापक अर्जुनदेव चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्र०सं० १९६५ ।

८-(डा०) प्रभुदयाल अग्निहोत्री — पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३ ।

९- पी० पी० एस० शास्त्री — वाल्मीकि रामायण, मद्रास, १९२५ ।

१०- बलदेव उपाध्याय — भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी ।

११- बलदेव उपाध्याय — संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा संस्थान, वाराणसी, १९७१ ।

१२- — भारतीय दर्शन (सम्पादक डा० नन्दकिशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ संस्थान, १९७८ (द्वितीय संस्करण) ।

१३- (डा०) भीखनलाल आत्रेय — भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्र० संस्करण, १९६४ ।

१४- मोहनलाल महतो "वियोगी" — आर्य-जीवन दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७१ ।

१५- वाचस्पति गैरोला — भारतीय दर्शन, लोकभारती, इलाहाबाद, १९७६ ।

१६- " — भारतीय धर्म-व्यवस्था, इलाहाबाद, १९७६ ।

१७- वामन शिवराम आप्टे — संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९८१ ।

१८- रामकुमार राय — वाल्मीकीय रामायण कोश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् २०२१ ।

१९- रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे — उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७१ ।

२०- लक्ष्मीधर वाजपेयी — धर्म-शिक्षा, प्रयाग, १९४९ ।

२१- (डा०) शान्तिकुमार नानूराम व्यास — (क) रामायणकालीन संस्कृति, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७१ ।

२२- (ख) रामायणकालीन समाज, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६४ ।

२३- (ग) संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण, दिल्ली, १९६० ।

२४- (घ) संस्कृत और उसका साहित्य, दिल्ली, १९५८ ।

२५- प्रो० शिवदत्त ज्ञानी — भारतीय संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नवीन संस्करण, दिल्ली ।

२६- डा० सूर्यकान्त — संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, ओरियण्टल लॉगमैन, १९७२ ।

२७- हरिदत्त वेदालंकार — हिन्दू परिवार मीमांसा, बंगाल हिन्दी मण्डल, संवत् २०११ ।

२८- हिन्दी साहित्य कोश(भाग १) , ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (द्वितीय संस्करण), सम्वत् २०२० ।

ENGLISH

(1) A.S. Altekar — (a) The Position of Women in Hindu, Civilization, Motilal Banarasidas Banarasa, 1956.

" — (b) Education in Ancient India, Nand Kishore & Brothers, Varanasi, 1944.

(2) A.D. Pusalkar — (a) Bhasa- A study, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1940.

" — (b) Studies in Epics and Puranas of India, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1956.

(3) A.A. Macdonell — (a) Encyclopeadia of Relation & Ethics, Vol-10, Article on the Ramayana.

" — (b) A History of Sanskrit Literature, London, 1900, Reprinted Motilal Banarasidas, Delhi, 1967.

(4) A.M. Macdonald (Ed) — Chambers compact English Dictionary, London, 1954.

(5) (Dr) Benjamin Khan — The concept of Dharma in Valimiki Ramayana, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1965.

(6) C.V. Vaidya — The Riddles of the Ramayana, Bombay, 1906.

(7) C. Narayana Menon — An approach to the Ramayana, Banarasa, 1942.

(8) E.W. Hopkins — The Great Epic of India, New Haven, Yale University Press, 1901, Reprinted 1969.

(9) H.Jacobi — The Ramayana Journal of the oriental Institute, Vol.VI-VII, Baroda, 1957-58.

(10) H.C.Chakaladhar — Social life in Ancient India, Calcutta, 1929.

(11) K.S.Ramaswami Sastri — Studies in the Ramayana, Kirti Mandir series, Baroda, 1944.

(12) K.P.Jayaswal — Hindu Polity, Banglore City, 1955.

(13) M.Winternitz — A History of Indian Literature Vol.I, Calcutta, 1927.

(14) (Dr) Madhusudan Madhavalal Pathak — Simlies in the Ramayana, The Maharaja Sayajivao, University of Baroda, 1968.

(15) P.C. Dharma —
(a) Ramayana Polity, Madras, 1942.
(b) Social life in the Ramayana, Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol.XXVIII, PP 1-19, 73-88.
(c) Women during the Ramayana period, Journal of Indian History, Vol. XVII PP.1-28, Madras.
(d) Culture of the Ramayana, Cultural Heritage, Vol-1,PP 77-97.

(16) Pandharinath H. Prabhu. — Hindu Social Organization popular prakashan, Bombay, 5th Edition, 1961.

(17) P.V. Kane — Some Ramayana problems Journal of the oriental. Institute, Vol.PP-1-8, Baroda, 1952.

(18) Ramashraya Sharma — A Socio- Political studies of the Valmiki Ramayan, Motilal, Banarasi-das, Delhi, 1971.

(19) Radha Krishnan[Ed.] — History of Philosophy, Eastern and Western Vol-1, George Allen & Unwin Limited, London, 1952.

(20) Radhakrishnan(Ed) — The Cultural Heritage of India. Vol-1, Calcutta, 1930.

(21) R.K.Mookerji — (a) Ancient Indian Education, Motilal Banarasidas, Delhi, 1974.

,, — (b) Hindu Civilization 2 Vols. Bharti Vidya Bhavan, Bombay.

(22) S.C.Venkteshwar — Indian Culture through ages, Vol-1., London, 1928.

(23) S.C. Sarkar — Educational ideas and Institution in Ancient India, Patna, 1928.

(24) S.N. Vyasa — The Caste system in the Ramayana Age, the Journal of the oriental Institute, Vol-III, PP 111-113, Baroda, 1953-54.

(25) S.N.Vyasa — India in the Ramayana Age, Atmaram & Sons, Delhi, 1967.

(26) Dr.(Miss) Shakambhari Jayal — The status of women in the Epic, Motilal Banarasidas, Delhi-1966.

(27) V.S.Srinivas Sastri — Lectures on the Ramayana, Madras Sanskrit Academy, Madras, 1949.

::